समयसारः

श्री कुंदकुंद स्वामी समयसार ग्रंथके प्रारंभमें मंगलाचरण करते हुए ग्रंथ कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं --

वंदित्तु सव्वसिद्धे, [1]धुवमचलमणोवमं गइं[2] पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो[3] [4]सुयकेवलीभणियं।।१।।

मैं ध्रुव, अचल अथवा निर्मल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए समस्त सिद्धोंको नमस्कार कर हे भव्यजीवो! श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृत नामक ग्रंथको कहूँगा।।१।।

आगे समयके स्वसमय और परसमय के भेदसे दो भेद बतलाते हैं

जीवो चरित्तदंसण,णाणट्ठिउ[5] तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्म[6]पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।२।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्थित है निश्चयसे उसे स्वसमय जानो और जो पुद्‌गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित है उसे परसमय जानो।।२।।

आगे अपने गुणोंके साथ एकत्वके निश्चयको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और कर्मबंधके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ आत्मा हेय है अथवा स्वस्थान ही शुद्धात्माका स्वरूप है पर समय नहीं ... यह अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं --

एयत्तणिच्छयगओ[7], समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होई[8]।।३।।

स्वकीय शुद्धगुणपर्यायरूप परिणत अथवा अभेदरत्नत्रयरूप परिणमन करनेवाला एकत्वनिश्चयको प्राप्त हुआ समय ही -- आत्मा ही समस्त लोकमें सुंदर है। अतः एकत्वके प्रतिष्ठित होनेपर उस आत्मपदार्थके साथ बंधकी कथा विसंवादपूर्ण है -- मिथ्या है।

जबकि संसारके समस्त पदार्थ स्वस्वरूपमें निमग्न होकर पर पदार्थसे भिन्न हैं तब जीवद्रव्य पुद्‌गलद्रव्यके साथ संबंधको कैसे प्राप्त हो सकता है?।।३।।

---

१. अमलं अथवा अचलं इति पाठान्तरे ज. वृ. । २. गदिं ज. वृ. ३. ओ अहो भव्याः ज. वृ. ४. सुदकेवलीभणिदं ज. वृ.। ५. ...णाणट्ठिद ज. वृ. । ६. कम्मुवदेशट्ठिदं (पुद्‌गलकर्मोपदेशस्थितं। ज. वृ. । ७. .... गदो ज. वृ. । ८. होदि ज. वृ. ।

आगे आत्मद्रव्यका एकत्वपना सुलभ नहीं है यह प्रकट करते हैं

सुपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स [१]।।४।।

कामभोग और बंधकी कथा सभी जीवोंके श्रुत है, परिचित है और अनुभूत है, परंतु पर पदार्थोंसे पृथक् एकत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है।

यह जीव काम, भोग और बंधसंबंधी चर्चा अनादिकालसे सुनता चला आ रहा है, अनादिसे उसका परिचय प्राप्त कर रहा है और अनादिसे ही उसका अनुभव करता चला आ रहा है, इसलिए उसकी सहसा प्रतीति हो जाती है। परंतु यह जीव संसारके समस्त पदार्थोंसे जुदा है और अपने गुणपर्यायोंके साथ एकताको प्राप्त हो रहा है ... यह कथा इसने आजतक नहीं सुनी, न उसका परिचय प्राप्त किया और न अनुभव ही। इसलिए वह दुर्लभ वस्तु बनी हुई है।।४।।

आगे आचार्य उस एकत्व विभक्त आत्माका निर्देश करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए अपनी लघुता प्रकट करते हैं --

तं एयत्तविहत्तं [२] दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं [३]।।५।।

मैं अपने निजविभवसे उस एकत्व विभक्त आत्माका दर्शन कराता हूँ। यदि दर्शन करा सकूँ -- उसका उल्लेख करा सकूँ तो प्रमाण मानना और कहीं चूक जाऊँ तो मेरा छल नहीं ग्रहण करना।।५।।

आगे वह शुद्धात्मा कौन है? यह कहते हैं --

ण वि होदि अप्पमेत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं[४] णाओ [५] जो सो उ सो चेव।।६।।

जो ज्ञायक भाव है अर्थात् ज्ञानस्वरूप शुद्ध जीवद्रव्य है वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं, वह तो जैसा जाना गया है उसी रूप है।

जो जीव पर पदार्थके संबंधसे अशुद्ध हो रहा है उसीमें प्रमत्त और अप्रमत्तका विकल्प सिद्ध होता है, परंतु जो पर पदार्थके संबंधसे विविक्त है वह केवल ज्ञायक ही है -- ज्ञाता-दृष्टा ही है।।६।।

आगे जिस प्रकार प्रमत्त अप्रमत्तके विकल्पसे जीवमें अशुद्धपना आता है उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके हैं इस कथनसे भी आत्मामें अशुद्धपना सिद्ध होता है इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

---

१. विभत्तस्स ज. वृ. । २ ... विभत्तं ज. वृ. । ३. घित्तव्वं ज. वृ. । ४. सुद्धा ज. वृ. ५. णादा ज. वृ. ।

ववहारेणुवदिस्सइ [१], णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।

णवि णाणं व चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

ज्ञानी जीवके चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है यह व्यवहार नयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक ज्ञायक ही है इसलिए शुद्ध कहा गया है।।७।।

आगे यदि व्यवहार नयसे पदार्थका वास्तविक स्वरूप नहीं कहा जाता तो उसे छोड़कर केवल निश्चय नयसे ही कथन करना चाहिए इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा ण गाहेउं [२]।

तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसण[३]मसक्कं।।८।।

जिस प्रकार म्लेच्छजन म्लेच्छ भाषाके बिना वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिए शक्य नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश शक्य नहीं है।।८।।

आगे व्यवहार नय परमार्थका प्रतिपादक किस प्रकार है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

जो हि [४]सुएणहिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।

तं [५]सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोयप्पईवयरा।।९।।

जो [६] सुयणाणं सव्वं, जाणइ [७] सुयकेवलिं तमाहु जिणा।

णाणं अप्पा सव्वं, जम्हा [८] सुयकेवली तम्हा[९]।।१०।।

जो निश्चय कर श्रुतज्ञानसे इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। [यह निश्चय नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण है। अब व्यवहार नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण कहते हैं।] जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है जिनेंद्रदेव उसे श्रुतकेवली कहते हैं। यतः सब ज्ञान आत्मा है अतः आत्माको ही जाननेसे श्रुतकेवली कहा जा सकता है।।९-१०।।

आगे व्यवहार नयका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए? इसका समाधान कहते हैं --

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।११।।

---

१. दिस्सदि ज. वृ. २. गाहेदुं ज. वृ. । ३. देसण ... ज. वृ. । ४. सुदेण। ५. सुद -- । ६. सुद। ७. सुद। ८. सुद -- ज. वृ. । ९. जयसेन वृत्तिमें १० वीं गाथाके आगे निम्नांकित दो गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे।।
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।

व्यवहार नय अभूतार्थ है -- असत्यार्थ है और शुद्ध नय भूतार्थ -- सत्यार्थ कहा गया है। जो जीव भूतार्थ नयका आश्रय करता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि होता है।।११।।

आगे किन्हीं जीवोंके किसी समय व्यवहार भी प्रयोजनवान् है ऐसा कहते हैं --

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो[१] परमभावदरिसीहिं[२]।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

जो परमभाव अर्थात् उत्कृष्ट दशामें स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्त्वका उपदेश करनेवाला शुद्ध निश्चय नय जाननेयोग्य है और जो अपरम भावमें स्थित है अर्थात् अनुत्कृष्ट दशामें विद्यमान हैं वे व्यवहार नयसे उपदेश करनेयोग्य हैं।।१२।।

आगे शुद्ध निश्चय नयसे जाने हुए जीवाजीवादि पदार्थ ही सम्यक्त्व हैं ऐसा कहते हैं --

भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

निश्चय नयसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं। यहाँ विषय-विषयीमें अभेदकी विवक्षा कर जीवाजीवादि पदार्थोंको ही सम्यक्त्व कह दिया है।।१३।।

आगे शुद्ध नयका स्वरूप कहते हैं --

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि।।१४।।

जो नय आत्माको बंधरहित, परके स्पर्शसे रहित, अन्यपने रहित, चंचलता रहित, विशेष रहित और अन्य पदार्थके संयोग रहित अवलोकन करता है -- जानता है उसे शुद्ध नय जानो।।१४।।

आगे जो उक्त प्रकारकी आत्माको जानता है वही जिनशासनको जानता है ऐसा कहते हैं -

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
[३]अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं[४]।।१५।।

---

१. णादव्वो .... ज. वृ. । २. दरसीहिं ... ज. वृ. । ३. अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्, सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। ज. वृ. ।

४. १५ वीं गाथाके आगे ज. वृत्तिमें निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

आदा खु मज्झ णाणे आदा में दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।

जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप समस्त जिनशासनको देखता है -- जानता है।।१५।।

आगे ज्ञान, दर्शन और चारित्र निरंतर सेवन करनेयोग्य हैं यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि[1], अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।१६।।

साधु पुरुषके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरंतर सेवन करनेयोग्य हैं और उन तीनोंको ही निश्चयसे आत्मा जानो। यहाँ अभेद नयसे गुणगुणीमें अभेद विवक्षा कर सम्यग्दर्शनादिको तथा आत्माको एक रूप कहा है।।१६।।

आगे इसी बातको दृष्टांत और दार्ष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह णाम को वि पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण।।१७।।
एवं हि जीवराया, णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण।।१८।। जुम्मं

जिस प्रकार धनका चाहनेवाला कोई पुरुष पहले राजाको जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसीकी सेवा करता है। इसी प्रकार मोक्षको चाहनेवाले पुरुषके द्वारा जीवरूपी राजा जाननेयोग्य है, श्रद्धान करनेयोग्य है और फिर सेवा करनेयोग्य है।

भावार्थ -- जिस प्रकार राजाके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण -- सेवाके बिना धन सुलभ नहीं है उसी प्रकार आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरणके बिना मोक्ष सुलभ नहीं है।।१७-१८।।

यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध -- अज्ञानी रहता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

कम्मे णोकम्मम्हि य, अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव[2]।।१९।।

जब तक इस जीवके कर्म और नोकर्ममें 'मैं कर्म नोकर्मरूप हूँ और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं' निश्चयसे ऐसी बुद्धि रहती है तब तक वह अप्रतिबुद्ध -- अज्ञानी रहता है।।१९।।

---

१. तिण्णवि ज. वृ. । २. उन्नीसवीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो।।
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं।।

आगे अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीवका लक्षण कहते हैं --

अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं, सचित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।
आसि मम पुव्वमेदं, अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होदिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि।।२१।।
एयत्तु असंभूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

'चेतन, अचेतन अथवा मिश्ररूप जो कुछ भी परपदार्थ हैं मैं उन रूप हूँ, वे मुझ रूप हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, पूर्व समयमें वे मेरे थे, मैं उनका था, भविष्यत्में वे फिर मेरे होंगे और मैं उनका होऊँगा' जो पुरुष इस प्रकार मिथ्या आत्मविकल्प करता है वह मूढ है -- अप्रतिबुद्ध है -- अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु स्वरूपको जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्पको नहीं करता है वह अमूढ़ है -- प्रतिबुद्ध है -- ज्ञानी है।

भावार्थ -- जो आत्माको अन्यरूप अथवा अन्यका स्वामी मानता है वह अज्ञानी है और जो आत्माको आत्मरूप तथा परको पररूप जानता है वह ज्ञानी है।।२०-२२।।

आगे अप्रतिबुद्धको समझानेके लिए उपाय कहते हैं --

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो[१] [२]बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो [३]सत्तो [४]वत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।।२५।।

जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित हो रही है ऐसा पुरुष कहता है कि यह शरीरादि बद्ध तथा धनधान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है और यह जीव अनेक भावोंसे संयुक्त है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा देखा हुआ तथा निरंतर उपयोगलक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्यरूप किस प्रकार हो सकता है? जिससे कि तू कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप होता है तो पुद्गल भी जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा और तभी यह कहा जा सकेगा कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। पर ऐसा

१. जीवे ज. वृ. । २. बहुभावसंजुत्ते ज. वृ. । ३. सक्का। ४. वुत्तुं ज. वृ. ।

है नहीं।।२३-२५।।

आगे अज्ञानी जीव कहता है --

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर तथा आचार्योंकी जो स्तुति है वह सभी मिथ्या होती है। इसलिए हम समझते हैं कि आत्मा शरीर ही है।।२६।।

आगे आचार्य समझाते हैं --

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो।।२७।।

व्यवहार नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं परंतु निश्चय नयका कहना है कि जीव और शरीर एक पदार्थ कभी नहीं हो सकते।।२७।।

आगे व्यवहार नयसे शरीरका स्तवन और शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है यह कहते हैं --

इणमण्णं जीवादो, देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णादि हु संथुदो, वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।

जीवसे भिन्न पुद्‌गलमय शरीरकी स्तुति कर मुनि यथार्थमें ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुति की और वंदना की।।२८।।

आगे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन मानना निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है --

तं णिच्छये ण जुज्जदि, ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो, सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

उक्त स्तवन निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं हैं। जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही यथार्थमें केवलीकी स्तुति करता है।।२९।।

आगे प्रश्न है कि जब आत्मा शरीरका अधिष्ठाता है तब शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चय नयकी दृष्टिमें ठीक क्यों नहीं है? इस प्रश्न के उत्तरमें कहते हैं कि --

णयरम्मि वण्णिदे जह, ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

जिसप्रकार नगरका वर्णन करनेपर राजाका वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीरके गुणोंका स्तवन होनेपर केवलीके गुण स्तुत नहीं होते।।

जिस प्रकार नगर जुदा है, राजा जुदा है, उसी प्रकार शरीर जुदा है और उसमें रहनेवाला केवली जुदा है अतः शरीरके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चय नय ठीक नहीं मानता है।।३०।।

आगे निश्चय नयसे स्तुति किस प्रकार होती है यह कहते हैं --

जो इंदिये जिणत्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

जो इंद्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उसे नियमसे, जो निश्चय नयमें स्थित साधु हैं वे जितेंद्रिय कहते हैं।।३१।।

यही बात फिर कहते हैं --

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति।।३२।।

जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उस साधुको परमार्थके जाननेवाले मुनि जितमोह कहते हैं।।३२।।

यही बात फिर कहते हैं --

जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

मोहको जीतनेवाले साधुका मोह जिस समय क्षीण हो जाता है -- नष्ट हो जाता है उस समय निश्चयके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।।३३।।

आगे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह कहते हैं --

सव्वे भावा जम्हा, पच्चक्खाई परेत्ति [1]णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेयव्वं[2]।।३४।।

चूँकि ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावोंको पर हैं ऐसा जानकर छोड़ता है इसलिए ज्ञानको ही नियमसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए।।३४।।

आगे इस विषय को दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।

जिस प्रकार कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावोंको ये पर हैं ऐसा जानकर छोड़ देता है।।३५।।

---

१. णादूण ज. वृ. । २. मुणेदव्वं ज. वृ. ।

आगे परपदार्थोंसे भिन्नपना किस प्रकार प्राप्त होता है यह कहते हैं --

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।।३६।।

जो ऐसा जाना जाता है कि 'मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ' उसे आगमके जाननेवाले मोहसे निर्ममत्वपना कहते हैं।।३६।।

आगे इसी बातको फिरसे कहते हैं --

णत्थि मम धम्मआदी, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।।३७।।

जो ऐसा जाना जाता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगरूप हूँ उसे आगमके जाननेवाले धर्मादि द्रव्योंसे निर्ममत्वपना कहते हैं।।३७।।

आगे रत्नत्रयरूप परिणत आत्माका चिंतन किस प्रकार होता है यह कहते हैं --

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।।३८।।

निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ नहीं है।।३८।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकारमें पूर्वरंग समाप्त हुआ।

***

आगे मिथ्यादृष्टि दुर्बुद्धि जीव आत्माको नहीं जानते यह कहते हैं --

अप्पाणमयाणंता, मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूविंति।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु, तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति।।४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं, अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तण,गुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं, दोण्णि वि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु, कम्माणं जीवमिच्छंति।।४२।।

एवंविहा बहुविहा, परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाइहि, णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

आत्माको न जाननेवाले और परको आत्मा कहनेवाले कितने ही पुरुष अध्यवसानको तथा कर्मको जीव कहते हैं। अन्य कितने ही पुरुष अध्यवसान भावोंमें तीव्र अथवा मंद अनुभागगतको जीव कहते हैं। अन्य लोग नोकर्मको जीव मानते हैं। कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई ऐसी इच्छा करते हैं कि कर्मोंका जो अनुभाग तीव्र अथवा मंद भावसे युक्त है वह जीव है। कोई जीव तथा कर्म दोनों मिले हुएको ही जीव मानते है। और अन्य कोई कर्मोंके संयोगसे ही जीव इष्ट करते हैं -- मानते हैं। इस प्रकार बहुतसे दुर्बुद्धि जन परको आत्मा कहते हैं परंतु वे निश्चयवादियोंके द्वारा परमार्थवादी नहीं कहे गये हैं।।३९-४३।।

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर कहते हैं --

एए सव्वे भावा, पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, कह ते जीवो त्ति [1]वच्चंति।।४४।।

ये सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा केवली जिनेंद्र भगवानके द्वारा कहा गया है। फिर वे जीव हैं यह किस प्रकार कहा जा सकता है?।।४४।।

जबकि रागादि भाव चैतन्यसे संबंध रखते हैं तब उन्हें पुद्गलके किस प्रकार कहा जाता है? इसका उत्तर कहते हैं --

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं [2]वुच्चइ, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

पककर उदयमें आनेवाले जिस कर्मका प्रसिद्ध फल दुःख कहा जाता है वह आठों प्रकारका कर्म सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं।

भावार्थ -- यह आत्मा कर्मका उदय होनेपर दुःखरूप परिणमता है और जो दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है। इसलिए दुःखरूप भावमें चेतनपनेका भ्रम उपजता है। वास्तवमें दुःखरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है अतः जड़ ही है।।४५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें दूसरे ग्रंथोंमें जीवरूप क्यों कहा गया है? इसका उत्तर कहते हैं --

ववहारस्स दरीसण,मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा।।४६।।

१. उच्चंति ज. वृ. ।२. वुच्चदि ज. वृ. ।

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं ऐसा जिनेंद्रदेवने वर्णन किया है वह व्यवहार नयका मत है।।४६।।

आगे यह व्यवहार किस दृष्टांतमें प्रवृत्त हुआ यह कहते हैं --

राया हु णिग्गदो त्तिय, एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि, तत्थेको णिग्गदो राया।।४७।।
एमेव य ववहारो, अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते, तत्थेको णिच्छिदो जीवो।।४८।।

जैसे कोई राजा सेनासहित निकला। यहाँ सेनाके समूहको यह कहना कि 'यह राजा निकला है' व्यवहार नयसे कहा जाता है। यथार्थमें उनमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार अध्यवसानादि भावोंको 'यह जीव है' ऐसा जो आगममें कहा गया है वह व्यवहार नयसे कहा गया है, निश्चयसे तो उनमें जीव एक ही है।।४७-४८।।

तो फिर जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका उत्तर कहते हैं --

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुणसे सहित है, शब्दरहित है, जिसका किसी चिह्न अथवा इंद्रियद्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार कहनेमें नहीं आता उसे जीव जीव जानो।।४९।।

आगे जीवके रसादि नहीं हैं यह कहते हैं --

जीवस्स णत्थि वण्णो, णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं, ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा, णेव य अणुभायठाणाणि।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई, जोयट्ठाणा य बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा, ण मग्गणट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा, जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा, णो संजमलद्धिठाणा वा।। ५४।।

णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे, पुग्गलदव्वस्स परिणामा।।५५।।

जीवके न वर्ण है, न गंध, न रस है न स्पर्श है, न [1]रूप है न शरीर है, न संस्थान है, न संहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न [2]प्रत्यय है, न कर्म है, न वर्ग है, न वर्गणा है, न कोई स्पर्धक है, न अध्यवसाय स्थान है, न अनुभाग स्थान है, न कोई योगस्थान है, न बंधस्थान है, न उदयस्थान है, न मार्गणास्थान है, न स्थितिबंधस्थान है, न संक्लेशस्थान है, न संयमलब्धिस्थान है, न जीवसमास है और न गुणस्थान है। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।।५०-५५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि ये वर्णादि भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य ग्रंथोंमें उन्हें जीवका क्यों कहा है? इसका समाधान करते हैं --

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।

ये वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहारनयसे जीवके होते हैं, परंतु निश्चयनयसे कोई भी भाव जीवके नहीं हैं।।५६।।

आगे निश्चयनयसे वर्णादि जीवके क्यों नहीं हैं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

एएहि य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु, उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

इन वर्णादि भावोंके साथ जीवका संबंध दूध और पानीके समान जानना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार दूध और पानी पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप मालूम होते हैं उसी प्रकार जीव और वर्णादि भाव पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप जान पड़ते हैं। वास्तवमें वे उसके नहीं हैं, क्योंकि जीव उपयोगगुणसे अधिक है अर्थात् वर्णादिकी अपेक्षा जीवके उपयोगगुण अधिक रहता है जो कि जीवको वर्णादिसे पृथक् सिद्ध करता है।।५७।।

आगे दृष्टांतके द्वारा व्यवहार और निश्चयनयका अविरोध प्रकट करते हैं --

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो, ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तहजीवे कम्माणं, णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो, जिणेहि ववहारदो उत्तो।।५९।।

१. यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य -- अमृताख्याति।
२. मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययाः।।

[1]गंधरसफासरूवा, देहो संठाणमाइया जे य।

सव्वे ववहारस्स य, णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

जैसे मार्गमें लुटते पुरुषको देखकर लोग कहने लगते हैं कि यह मार्ग लुटता है। यथार्थमें विचार किया जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता। उसमें जानेवाले पुरुष ही लुटते हैं। वैसे ही जीवमें कर्मों और नोकर्मोंका वर्ण देखकर 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारनय से जिनदेवने कहा है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान आदि जो कुछ हैं वे सब व्यवहार नयसे जीवके हैं ऐसा निश्चयके देखनेवाले कहते हैं।।५८-६०।।

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर कहते हैं --

तत्थभवे जीवाणं, संसारत्थाण होंति वण्णादी।

संसारपमुक्काणं, णत्थि हु[2] वण्णादओ केई।।६१।।

वर्णादिक संसारमें स्थित जीवोंके उस संसारी दशामें होते हैं। संसारके छूटे हुए जीवोंके निश्चयसे वर्णादिक कुछ भी नहीं हैं।।

भावार्थ -- यदि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध रहता तो मुक्त अवस्थामें भी उसका सद्भाव पाया जाना चाहिए, परंतु पाया नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य संबंध नहीं है, किंतु संयोग संबंध है जो कि पृथक् सिद्ध दो वस्तुमें होता है।।६१।।

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध मानने में अन्य दोष प्रकट करते हैं --

जीवो चेव हि एदे, सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि।

जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक भाव सभी जीव हैं तो तेरे मतमें जीव और अजीवका कुछ भेद नहीं रहेगा।।६२।।

आगे संसारअवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा अभिप्राय होनेपर भी यही दोष आता है यह कहते हैं --

जदि संसारत्थाणं, जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।

तम्हा संसारत्था, जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।

एवं पुग्गलदव्वं, जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।

णिव्वाणमुवगदो वि य, जीवत्तं पुग्गलो पत्तो।।६४।।

१. एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा ज. वृ. । २. दु ज. वृ. ।

यदि संसारमें स्थित जीवोंके तेरे मतमें वर्णादिक तादात्म्यरूपसे होते हैं तो इस कारण संसारस्थित जीव रूपीपनेको प्राप्त हो गये और ऐसा होनेपर पुद्गल द्रव्य जीव सिद्ध हुआ। तथा हे दुर्बुद्धे! लक्षणकी समानतासे निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा।

भावार्थ -- जिसका ऐसा अभिप्राय है कि संसार अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य संबंध है उसके मतमें जीव संसारी दशामें रूपी हो जावेंगे और चूँकि रूपीपना पुद्गल द्रव्यका असाधारण लक्षण है इसलिए पुद्गल द्रव्य जीवपनेको प्राप्त हो जायेगा। इतना ही नहीं, ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामें भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव हो जायेगा, क्योंकि द्रव्य सभी अवस्थाओं में अपने अविनश्वर स्वभावसे उपलक्षित रहता है। इस प्रकार पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव होनेसे जीवका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। अतः निश्चित हुआ कि वर्णादिक भाव पुद्गल द्रव्यके हैं। जीवका उनके साथ तादात्म्यसंबंध न मुक्त दशामें सिद्ध होता और न संसारी दशामें।।६३-६४।।

आगे इसी बातको स्पष्ट करते हैं --

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य, चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादर पज्जत्तिदरा, पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।
एदेहिं य णिव्वत्ता, जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं, ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय जीव तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सभी नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं। करणस्वरूप इन प्रकृतियोंके द्वारा ही जीवसमास रचे गये हैं। अतः उन पुद्गलरूप प्रकृतियोंके द्वारा रचे हुएको जीव कैसे कहा जा सकता है? ।।६५-६६।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानधन आत्माको छोड़कर अन्यको जीव कहना सो सब व्यवहार है --

पज्जत्तापज्जत्ता, जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर आदि जितनी शरीरकी जीव संज्ञाएँ हैं वे सभी आगममें व्यवहार नयसे कही गयी हैं।।६७।।

आगे यह भी निश्चित ही है कि रागादि भाव जीव नहीं हैं यह कहते हैं --

मोहण कम्मस्सुदया, दु वण्णिया[१] जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा, जे[२] णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

१. वण्णिदा ज. वृ. । २. ते ज. वृ. ।

जो ये गुणस्थान हैं वे मोहकर्मके उदयसे होते हैं इस प्रकार वर्णन किये गये हैं। जो निरंतर अचेतन कहे गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं?।।६८।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

***

कर्तृकर्माधिकारः

आगे कहते हैं कि जब तक यह जीव, आत्मा और आस्रवकी विशेषताको नहीं जानता है तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवमें लीन रहता हुआ कर्मबंध करता है --

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदाऽसवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी तावदु सो, कोधादिसु वट्टदे जीवो।।६९।।
कोधादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं।।७०।।

यह जीव जबतक आत्मा और आस्रव इन दोनोंमें विशेष अंतर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है और क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहनेवाले जीवके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार जीवके कर्मोंका बंध सर्वज्ञ जिनेंद्रदेवने निश्चयसे कहा है।।६९-७०।।

आगे, इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

जिस समय इस जीवको आत्मा तथा कर्मोंका विशेष अंतर ज्ञात हो जाता है उसी समय उसके बंध नहीं होता है।।७१।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञानभावसे ही बंधका अभाव किस प्रकार हो जाता है? इसका उत्तर कहते हैं --

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

आस्रवोंका अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दुःखके कारण हैं ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।।७२।।

आगे यह जीव किस विविध विधिसे निवृत्त होता है यह कहते हैं --

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसण-समग्गो।
तम्हि ठिओ[1] तच्चित्तो, सव्वे एए[2] खयं णेमि।।७३।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ और ज्ञान-दर्शनसे परिपूर्ण हूँ। उसी ज्ञान-दर्शन स्वभावमें स्थिर होता हुआ तथा उसीमें चित्त लगाता हुआ मैं इन सब क्रोधादि आस्रवोंको क्षय प्राप्त करता हूँ अर्थात् इसका नाश करता हूँ।।७३।।

आगे भेदज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही समय होती है यह कहते हैं --

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य, णादूण णिवत्तए[3] तेहिं।।७४।।

जीवके साथ बँधे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, शरणरहित हैं, दुःख हैं और दुःखके फलस्वरूप हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्ति करता है।।७४।।

आगे ज्ञानी आत्माकी पहचान बतलाते हैं --

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।[4]

जो आत्मा कर्मके परिणामको और नोकर्मके परिणामको नहीं करता है, केवल जानता है, वह ज्ञानी है।

मोह तथा रागद्वेष आदि अंतर्विकार कर्मके परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, नोकर्मके परिणाम हैं। ज्ञानी जीव अपने आपको इनका करनेवाला कभी नहीं मानता, वह सिर्फ उदासीन भावसे इसको जानता मात्र है। ज्ञानी जीव कर्म तथा नोकर्मके परिणामको जानता ही है, उनमें राग द्वेष आदिकी कल्पना नहीं करता है। यही उसकी पहचान है।।७५।।

आगे पौद्गलिक कर्मको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ कर्मभाव है कि नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।७६।।

---

१. किदो ज. वृ. ।   २. एदे ज. वृ. । ३. णिवदत्ते तेसु ज. वृ. ।

४. ७५ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक मिलती है --

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पौद्गलिक कर्मोंको जानता हुआ भी निश्चयसे परद्रव्य तथा परपर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।।७६।।

आगे अपने परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, सगपरिणामं अणेयविहं।।७७।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अपने परिणामोंको जानता हुआ भी परद्रव्य तथा पर पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है।।७७।।

आगे पुद्गल कर्मके फलको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मप्फलमणंतं।।७८।।

ज्ञानी जीव अनंत पुद्गलकर्मके फलको जानता हुआ भी पर द्रव्य और पर पर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।७८।।

आगे जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जाननेवाले पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा, परिणमइ सएहिं भावेहिं।।७९।।

पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य तथा परपर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। वह जीवके ही समान अपने भावोंसे परिणमन करता है।।७९।।

आगे कहते हैं कि यद्यपि जीव और पुद्गलके परिणाममें परस्पर निमित्तमात्रपना है तथापि उन दोनोंमें कर्तृकर्मभाव नहीं है --

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ।।८०।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हंपि।।८१।।
एएण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य, जिसमें जीवके रागादिक परिणाम निमित्त हैं ऐसे कर्मपनेरूप परिणमन करते हैं उसीप्रकार जीव भी, जिनमें पुद्गलादिक दर्शनमोह तथा चारित्रमोह आदि कर्म निमित्त हैं ऐसे रागादिभावरूप परिणमन करते हैं। फिर भी जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता है और कर्म जीवके गुणोंको नहीं करता है। दोनोंका परिणमन परस्परके निमित्तसे होता है, ऐसा जानो। इस कारणसे आत्मा अपने भावोंका कर्ता है, पुद्गल कर्मके द्वारा किये हुए समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।।८०-८२।।

आगे निश्चय नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभावका वर्णन करते हैं --

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

निश्चय नयका ऐसा मत है कि आत्मा अपनेको ही करता है और अपनेको ही भोगता है ऐसा जानो।।८३।।

आगे व्यवहार नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृकर्मभावका उल्लेख करते हैं --

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।८४।।

व्यवहार नयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मको करता है और अनेक प्रकारके उसी पुद्गल कर्मको भोगता है।।८४।।

आगे व्यवहार नयके मतको दूषित ठहराते हैं --

जदि पुग्गलकम्ममिणं, कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
[1]दोकिरियावादित्तं, पसजदि सम्मं जिणावमदं।।८५।।

यदि जीव इस पुद्गलकर्मको करता है और उसीको भोगता है तो द्विक्रियावादित्वका प्रसंग आता है और वह प्रसंग जिनेंद्रदेवको संमत नहीं।

भावार्थ -- दो द्रव्योंकी क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं। जड़की क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन जड़की क्रियाएँ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियाओंका कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्यके मानना यह जिनका मत नहीं है।।८५।।

आगे दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों है? इसका समाधान करते हैं --

जम्हा दु अत्तभावं, पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी, दोकिरियावादिणो हुंति।।८६।।

१. दो किरिया।

जिस कारण आत्मभाव और पुद्गलभाव दोनोंको आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिए द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थ -- जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम दोनोंका ही कर्ता है वे एकके दो क्रियाओंके कहनेबाले हैं। ऐसा नियम है कि उपादानरूपसे एक द्रव्य एक द्रव्यका ही कर्ता हो सकता है, अनेक द्रव्योंका नहीं। जो एक द्रव्यको अनेक द्रव्योंका कर्ता मानते हैं वे वस्तुमर्यादाके लोपी होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं।।८६।।[1]

आगे मिथ्यात्व आदिके जीव-अजीवके भेदसे दो भेद हैं ऐसा वर्णन करते हैं --

मिच्छत्तं पुण दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो, कोधादीया इमे भावा।।८७।।

और वह मिथ्यात्व दो प्रकारका है -- एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं।

भावार्थ -- द्रव्यकर्मके उदयसे जीवमें जो मिथ्यात्व आदिका विभावभावरूप परिणमन होता है वह जीव चेतनका विकार होनेसे जीवरूप है तथा उस विभावभावका कारण जो द्रव्यकर्म है वह पुद्गलात्मक होनेसे अजीवरूप है।।८७।।

आगे जो मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे गये हैं वे कौन हैं? उनका पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं --

पुग्गल कम्मं मिच्छं, जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं, अविरइ मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान अजीव हैं वे पुद्गल कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति तथा मिथ्यात्व जीव हैं वे उपयोगरूप हैं।।८८।।

मिथ्यात्व आदि भाव चैतन्य परिणामके विकार क्यों हैं? इसका उत्तर कहते हैं --

उवओगस्स अणाई, परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदिभावो य णायव्वो।।८९।।

मोहसे युक्त उपयोगके तीन परिणाम अनादिकालीन हैं। वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव जानना चाहिए।।८९।।

---

१. ८६ वीं गाथाके आगे ज. वृ.में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं।।

आगे आत्मा इन तीन प्रकारके परिणामरूप विकारोंका कर्ता है यह कहते हैं --

एएसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनोंका अनादि निमित्त होनेपर आत्माका उपयोग निश्चय नयसे शुद्ध, निरंजन तथा एक होकर मिथ्यात्व आदि तीन भावरूप परिणमन करता है। वह आत्मा इन तीनोंमेंसे जिस भावको करता है वह उसीका कर्ता होता है।।९०।।

आगे कहते हैं कि जब आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन विकाररूप परिणमन करता है तब पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन हो जाता है --

जं कुणइ भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे, तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं।।९१।।

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है और आत्माके कर्ता होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाता है।।९१।।

आगे अज्ञान ही कर्मोंका करनेवाला है यह कहते हैं --

परमप्पाणं कुव्वं, अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो, कम्माणं कारगो होदि।।९२।।

परको अपना और अपनेको परका करता हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मोंका कर्ता होता है।।९२।।

आगे ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता यह कहते हैं --

परमप्पाणमछुव्वं, अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो, कम्माणमकारओ होदि।।९३।।

जो जीव परको अपना नहीं करता और अपनेको पर नहीं करता वह ज्ञानमय है। ऐसा जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता है।।९३।।

आगे अज्ञानसे कर्म क्यों उत्पन्न होते हैं? इसका उत्तर देते हैं --

तिविहो एसुवओगो, [१]अप्पवियप्पं करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होइ सो अत्तभावस्स।।९४।।

यह तीन प्रकारका उपयोग अपनेमें विकल्प करता है कि मैं क्रोधरूप हूँ [२] उस अपने उपयोग भावका वह कर्ता होता है।।९४।।

१. अस्स वियप्पं ज. वृ.। २. एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेनमानमायालोभमोहरागद्वेषकर्म नोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुघ्राणिरसनस्पर्शसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि ज. वृ.।

आगे इसी प्रकार और भी विकल्प करता है यह कहते हैं --

तिविहो एसुवओगो, [१] अप्पवियप्पं करेदि धम्माई।

कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स।।९५।।

यह तीन प्रकारका उपयोग धर्मादि आत्म विकल्प करता है। अर्थात् उन्हें अपना मानता है उस अपने उपयोगभावका वह कर्ता होगा।।९५।।

आगे यह सब अज्ञानकी महिमा है यह कहते हैं --

एवं पराणि दव्वाणि, अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।

अप्पाणं अवि य परं, करेइ अण्णाणभावेण।।९६।।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपनी करता है और आत्मद्रव्यको पररूप करता है।।९६।।

आगे इस कारण यह निश्चित हुआ कि ज्ञानसे जीवका कर्तापन नष्ट होता है, यह कहते हैं --

एदेण दु सो कत्ता, आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।

एवं खलु जो जाणदि, सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं।।९७।।

निश्चयके जाननेवालोंने कहा है कि इस अज्ञानभावसे ही जीव कर्ता होता है। इसे जो जानता है वह यथार्थमें सब प्रकारका कर्तृत्व छोड़ देता है।।९७।।

व्यवहारी लोग जो ऐसा कहते हैं कि --

ववहारेण दु [२] एवं, करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।

करणाणि य कम्माणि य, णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

आत्मा व्यवहारसे घट पट रथ इन वस्तुओंको, चक्षुरादि इंद्रियोंको, ज्ञानावरणादि कर्मोंको और इस लोकमें स्थित अनेक प्रकारके नोकर्मोंको -- शरीरोंको करता है।।९८।।

वह ठीक नहीं है --

जदि सो परदव्वाणि य, करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।

जम्हा ण तम्मओ तेण, सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

यदि वह आत्मा पर द्रव्योंको करे तो नियमपूर्वक तन्मय हो जाय, परंतु चूँकि तन्मय नहीं होता इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है।

---

१. अस्स वियप्पं -- असद्विकल्पं ज. वृ. । २. अत्र आदा इत्यपि पाठः।

भावार्थ -- जिसका जिसके साथ व्याप्य-व्यापक भाव होता है वही उसका कर्ता होता है। आत्माका घट पटादि परवस्तुओंके साथ व्याप्य-व्यापक भाव त्रिकालमें भी नहीं होता अतः वह उनका कर्ता व्यवहारसे भी कैसे हो सकता है?।।९९।।

आगे कहते हैं कि निमित्त नैमित्तिक भावसे भी आत्मा घटादि पर द्रव्योंका कर्ता नहीं है --

जीवो ण करेदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य [1]तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीव न घटको करता है न पटको करता है और न शेष - अन्य द्रव्योंको करता है। जीवके योग और उपयोग ही घट पटादिके कर्ता हैं -- उनके उत्पादनमें निमित्त हैं। यह जीव उन्हीं योग और उपयोगका कर्ता है।।१००।।

आगे ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है यह कहते हैं --

जे पुग्गल दव्वाणं, परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्योंके परिणाम हैं उन्हें आत्मा नहीं करता है। जो उन्हें केवल जानता है वह ज्ञानी है।।१०१।।

आगे अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है यह कहते हैं --

जं भावं सुहमसुहं, करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

आत्मा जिस शुभ अशुभ भावको करता है निश्चयसे वह उसका कर्ता होता है। वह भाव उस आत्माका कर्म होता है और वह आत्मा उस भावरूप कर्मका भोक्ता होता है।।१०२।।

आगे कहते हैं कि परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता --

जे जम्हि [2]गुणो दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो, कह तं परिणामए दव्वं।।१०३।।

जो गुण जिस द्रव्यमें रहता है वह अन्य द्रव्यमें संक्रांत नहीं होता -- बदलकर अन्य द्रव्यमें नहीं जाता। फिर अन्य द्रव्यमें संक्रांत नहीं होनेवाला गुण अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है?।।१०३।।

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका अकर्ता है यह कहते हैं --

दव्वगुणस्स य आदा, ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो, तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

---

१. सो तेसिं ज. वृ. । २. गुणे इत्यात्मख्यातिसम्मतः पाठः।

आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्य तथा गुणको नहीं करता है फिर उसमें उन दोनोंको नहीं करता हुआ वह आत्मा उस पुद्गलमय कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है? ।।१०४।।

आगे, आत्मा द्रव्यकर्म करता है यह जो कहा जाता है वह केवल उपचार है ऐसा कहते हैं -

जीवम्हि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं, भण्णदि उवयारमेत्तेण।।१०५।।

जीवके निमित्त रहते हुए कर्मबंधका परिणाम देखकर उपचारमात्रसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने कर्म किये हैं।।१०५।।

आगे इस उपचारको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जोधेहिं कदे जुद्धे, राएण कदंति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं, णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

जिस प्रकारसे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर लोग ऐसा कहते हैं कि युद्ध राजाने किया है, इसी प्रकार व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं।।१०६।।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि --

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं, ववहारणयस्स वत्तव्वं।।१०७।।

आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है यह सब व्यवहार नय कहता है।।१०७।।

आगे इसी बातको दृष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह राया ववहारा, दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा, दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

जिस प्रकार राजा दोष और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा गया है उसी प्रकार जीव, द्रव्य और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा गया है।

भावार्थ -- जिस प्रकार प्रजामें दोष और गुण स्वयं उत्पन्न होते हैं परंतु व्यवहार ऐसा होता है कि ये दोष और गुण राजाने उत्पन्न किये हैं, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं होता है, परंतु व्यवहार ऐसा होता है कि ये ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये हैं।।१०८।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता है तो दूसरा कौन करता है? इसका उत्तर कहते हैं --

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।
तेसिं पुणो वि य इमो, भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी, जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।
एदे अचेदणा खलु, पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्मं, णवि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।
गुणसण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता, गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

यथार्थमें चार सामान्य प्रत्यय बंधके करनेवाले कहे जाते हैं। वे चार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिए। फिर उन प्रत्ययोंका यह भेद तेरह भेदरूप कहा गया है जो कि मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यंत है। ये सब भेद चूँकि पुद्‌गलकर्मके उदयसे होते हैं इसलिए यथार्थमें अचेतन हैं। यदि ये कर्म करते हैं तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता। ये प्रत्यय गुणसंज्ञावाले हैं क्योंकि कर्म करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव कर्मोंका अकर्ता है और गुण ही कर्म करते हैं।।१०९-११२।।

आगे कहते हैं कि जीव और प्रत्ययोंमें एकपना नहीं है --

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य, एवमणण्णत्तमावण्णं।।११३।।
एवमिह जो दु जीवो, सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो, पच्चयणोकम्मकम्माणं।।११४।।
अह दे अण्णो कोहो, अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय, कम्मं णोकम्ममवि अण्णं।।११५।।

जिस प्रकार उपयोग जीवसे अनन्य है -- अभिन्न है -- एकरूप है उसी प्रकार यदि क्रोध भी अनन्य माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव तथा अजीवमें एकताकी आपत्ति आती है और इस आपत्तिसे इस लोकमें जो जीव है वही नियमसे अजीव हो जायेगा। क्रोधके साथ जीवकी एकता माननेमें जो दोष आता है वही दोष मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय, नोकर्म तथा कर्मोंके साथ एकता माननेमें भी आता है। इस दोषसे बचनेके लिए यदि तुम्हारा यह मत हो कि क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोधको अन्य मानते हो उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मको भी अन्य मानो।।११३-११५।।

आगे सांख्य मतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्‌गलद्रव्यका परिणामस्वभाव सिद्ध करते हैं --

जीवेण सयं बद्धं, ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं, अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।
कम्मइयवग्गणासु य, अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा।।११७।।
जीवो परिणामयदे, पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते, कहं तु परिणामयदि चेदा [१]।।११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे, कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।
णियमा कम्मपरिणदं, कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

पुद्गल द्रव्य जीवमें न तो स्वयं बँधा है और न कर्मभावसे स्वयं परिणमन करता है, यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जायेगा और कार्मण वर्गणाएँ जब कर्मरूप परिणमन नहीं करेंगी तो संसारका अभाव हो जायेगा अथवा सांख्यमतका प्रसंग आ जायेगा। इससे बचनेके लिए यदि यह मानो कि जीव, पुद्गल द्रव्यको कर्मरूप परिणमन कराता है तो जो पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है उसे आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है? यदि यह कहो कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमन करता है तो यह कहना मिथ्या हो जायेगा कि जीव कर्मको कर्मत्व रूपसे परिणमन कराता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत हुआ नियमसे कर्मरूप होता है। ऐसा होनेपर ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्यको ही कर्म जानो।।११६-१२०।।

आगे सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति जीवका परिणामीपना सिद्ध करते हैं --

ण सयं बद्धो कम्मे, ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी तदा होदी।।१२१।।
अपरिणमंतम्हि सयं, जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२।।
पुग्गलकम्मं कोहो, जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं, कहं णु परिणामयदि कोहो।।१२३।।

१. णाणी इत्यपि पाठः।

अह समयप्पा परिणमदि, कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे, जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।
कोहुवजुत्तो कोहो, माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।[१]

यदि तेरा ऐसा मत है कि यह जीव कर्मोंमें न स्वयं बँधा है और न क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन करता है तो अपरिणामी हो जायेगा और जब जीव क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन नहीं करेगा तो संसारका अभाव हो जायेगा अथवा सांख्यमतका प्रसंग आ जायेगा। इससे बचनेके लिए यदि यह कहेगा कि पुद्गलकर्मरूप क्रोध, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है तो उसके उत्तरमें कहना यह है कि जब जीव स्वयं परिणमन नहीं करता है तब उसे क्रोध कैसै परिणमायेगा? अथवा तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि आत्मा स्वयं क्रोधभावसे परिणमन करता है तो क्रोध नामक द्रव्यकर्म, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा। इस कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जब आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होता है तब क्रोध ही है, जिस समय मानसे उपयुक्त होता है उस समय मान ही है, जब मायासे उपयुक्त होता है तब माया ही है और जब लोभसे उपयुक्त होता है तब लोभ ही है।।१२१-१२५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा जिस समय जो भाव करता है उस समय वह उसका कर्ता होता है --

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[२]**।**
णाणिस्स दु णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स।।१२६।।

आत्मा जिस भावको करता है उस भावरूप कर्मका कर्ता होता है। वह भाव ज्ञानी जीवके ज्ञानमय होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमय होता है।।१२६।।

आगे ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है? इसका उत्तर कहते

---

१. १२५ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नलिखित ३ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है --

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिसंगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।
जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।
जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति।।

२. भावस्स ज. वृ.

हैं --

अण्णाणमओ भावो, अण्णाणिओ कुणदि तेण कम्माणि।

णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि।।१२७।।

अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है इसलिए वह कर्मोंको करता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है इसलिए कर्मोंको नहीं करता है।।१२७।।

आगे ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव होता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी जीवके अज्ञानमय ही भाव होता है, अन्य नहीं। ऐसा नियम क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं --

णाणमया भावाओ, णाणमया चेव जायदे भावो।

जम्हा तम्हा णाणिस्स, सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।

अण्णाणमया भावा, अण्णाणो चेव जायए भावो।

जम्हा तम्हा भावा, अण्णाणमया अणाणिस्स।।१२९।।

चूँकि ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भावही उत्पन्न होता है इसलिए ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है इसलिए अज्ञानी जीवके सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।।१२८-१२९।।

आगे यही बात दृष्टांतसे सिद्ध करते हैं --

कणयमया भावादो, जायंते कुंडलादयो भावा।

अयमयया भावादो, तह जायंते तु कडयादी।।१३०।।

अण्णाणमया भावा, अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।

णाणिस्स दु णाणमया, सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

जिस प्रकार सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुंडलादि भाव होते हैं और लोहमय भावसे लोहमय कटकादि भाव होते हैं उसी प्रकार अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीके ज्ञानमय भावसे सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।।१३०-१३१।।

आगे अज्ञान आदिका स्वरूप बतलाते हुए उक्त बातको स्पष्ट करते हैं --

अण्णाणस्स स उदओ, जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।

मिच्छत्तस्स दु उदओ, जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।

उदओ असंजमस्स दु, जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।

जो दु कलुसोवओगो, जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।

तं जाण जोगउदअं, जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा, कायव्वो विरदिभावो वा।।१३४।।
एदेसु हेदुभूदेसु, कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं, णाणावरणादिभावेहिं।।१३५।।
तं खलु जीवणिबद्धं, कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू, जीवो परिणामभावाणं।।१३६।।

जीवोंके जो अतत्त्वोपलब्धि है -- तत्त्वोंका मिथ्या जानना है वह अज्ञानका उदय है और जीवके जो तत्त्वका अश्रद्धानपना है वह मिथ्यात्वका उदय है। जीवोंके जो विरतिका अभाव है -- अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है। जीवोंके जो मलिन उपयोग है वह कषायका उदय है और जीवोंके जो शुभ अशुभ कार्यरूप अथवा उनकी निवृत्तिरूप चेष्टाका उत्साह है उसे योगका उदय जानो। हेतुभूत इन प्रत्ययोंके रहनेपर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोंसे आठ प्रकार परिणमन करता है। कार्मण वर्गणामें आया हुआ द्रव्य जिस समय निश्चयसे जीवके साथ बँधता होता है उस समय उन अज्ञानादि भावोंका कारण जीव होता है।।१३२-१३६।।

आगे कहते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे जुदा है --

जीवस्स दु कम्मेण य, सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं, च दो वि रागादिमावण्णा।।१३७।।
एकस्स दु परिणामा, जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं, विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके जो रागादि परिणाम हैं वे कर्मके साथ होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादि भावको प्राप्त हो जायेंगे और ऐसा होनेपर पुद्गलमें भी चेतनपना प्राप्त हो जायेगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि इस दोषसे बचनेके लिए ऐसा माना जाय कि रागादि परिणाम एक जीवके होते हैं तो कर्मोदयरूप हेतुके बिना जीवके परिणाम हो जायेंगे और उस दशामें मुक्त जीवके भी उनका सद्भाव अनिवार्य हो जायेगा।

इन गाथाओंका द्वितीय व्याख्यान इस प्रकार है --

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके रागादि परिणाम कर्मोंके साथ ही होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादिभावको प्राप्त होते हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूप परिणाम एक जीवके ही उत्पन्न होता है। वह कर्मका उदयरूप निमित्त कारणसे पृथक् एक जीवका ही परिणाम है।।१३७-१३८।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल द्रव्यका कर्मरूप परिणमन जीवसे जुदा है --

जइ जीवेण सहच्चिय, पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा, हु दोवि कम्मत्तमावण्णा।।१३९।।
एकस्स दु परिणामो, पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं, विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गलद्रव्यका जो कर्मरूप परिणाम है वह जीवके साथ ही होता है तो ऐसा माननेपर पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभावको प्राप्त हो जायेंगे इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कर्मरूपसे परिणाम एक पुद्गल द्रव्यके ही होता है और वह परिणाम जीवभावरूप निमित्त कारणसे पृथक् पुद्गल कर्मका ही है।।१३९-१४०।।

आगे पूछते हैं कि कर्म आत्मामें बद्ध स्पृष्ट है या अबद्ध स्पृष्ट? इसका उत्तर नयविभागसे कहते हैं --

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।१४१।।

जीवसे कर्म बद्ध है तथा स्पृष्ट है यह व्यवहार नयका कहना है और कर्म जीवसे अबद्ध स्पृष्ट है यह शुद्ध नय -- निश्चय नय का वचन है।।१४१।।

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं। समयसार इन नयपक्षोंसे परे है --

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

जीवमें कर्म बँधे हुए हैं अथवा नहीं बँधे हुए हैं ऐसा तो नयपक्ष जानो और जो इस पक्षसे अतिक्रांत -- दूरवर्ती कहा जाता है वह समयसार है।।१४२।।

आगे पक्षातिक्रांतका क्या स्वरूप है? यह कहते हैं --

दोण्हवि णयाण भणियं, जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि, किंचिवि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

जो पुरुष अपने शुद्ध आत्मासे प्रतिबद्ध हो दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता है किंतु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता वह नयपक्षसे परिहीन है -- पक्षातिक्रांत है।।१४३।।

आगे पक्षातिक्रांत ही समयसार है यह कहते हैं --

सम्मद्दंसणणाणं, एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

जो सब नयपक्षोंसे रहित है वही समयसार कहा गया है। यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है।।१४४।।

इस प्रकार कर्तृकर्म नामका द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

***

पुण्यपापाधिकारः

अपने शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं --

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

अशुभ कर्मको कुशील और शुभ कर्मको सुशील जानो। परंतु जो जीवको संसारमें प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है?।।१४५।।

आगे दोनों ही कर्म सामान्यरूपसे बंधके कारण हैं यह सिद्ध करते हैं --

सौवण्णियम्हि णियलं, बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।

जिस प्रकार लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है और सुवर्णकी भी बाँधती है इसी प्रकार किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म जीवको बाँधता ही है।।१४६।।

आगे दोनों ही कर्मोंका निषेध करते हैं --

तम्हा दु कुसीले हिय, रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साधीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण।।१४७।।

इसलिए हे मुनिजन हो! उन दोनों कुशीलोंसे राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशीलके संसर्ग और रागसे स्वाधीनताका विनाश होता है।।१४७।।

आगे इसी बातको दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं, संसग्गं रायकरणं च।।१४८।।
एमेव कम्मपयडी, सील सहावं हि कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य, तस्संसग्गं सहावरया।।१४९।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य निंदित स्वभाववाले किसी मनुष्यको जानकर उसके साथ संगति और राग करना छोड़ देता है उसी प्रकार स्वभावमें रत रहनेवाले मनुष्य कर्मप्रकृतियोंके शीलस्वभावको निंदनीय जानकर उसके साथ राग छोड़ देते हैं और उसकी संगतिका भी परिहार कर देते हैं।।१४८-१४९।।

आगे राग ही बंधका कारण है यह कहते हैं --

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो[१]।

एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रागी जीव कर्मको बाँधता है और वैराग्यको प्राप्त हुआ कर्मसे छूटता है यह जिनेंद्र भगवानका उपदेश है, इसलिए कर्मोंमें राग मत करो।।१५०।।

आगे ज्ञान ही मोक्षका हेतु है यह सिद्ध करते हैं --

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।

तम्हि ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

निश्चयसे परमार्थरूप जीवका स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं उस स्वभावमें स्थित हुए मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ -- मोक्षका उपादान कारण आत्मा है और आत्मा परमार्थसे ज्ञानस्वभाववाला है, इसलिए ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।।१५१।।

आगे परमार्थमें स्थित नहीं रहनेवाले पुरुषोंका तपश्चरणादिक बालतप तथा बालव्रत है ऐसा कहते हैं --

परमट्ठम्हि दु अट्ठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारेई।

तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू।।१५२।।

जो मुनि ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्थित न होकर तप करते हैं और व्रत धारण करते हैं उस सब तप और व्रतको सर्वज्ञ देव बालतप और बालव्रत कहते हैं।।१५२।।

आगे ज्ञान मोक्षका और अज्ञान बंधका कारण है यह नियम करते हैं --

वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।

परमट्ठबाहिरा जे [२], णिव्वाणं ते ण विंदंति।।१५३।।

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं वे व्रत और नियमोंको धारण करते हुए तथा शील और तपको करते हुए भी मोक्षको नहीं पाते हैं।।१५३।।

आगे फिर भी पुण्यकर्मका पक्षपात करनेवालोंको समझानेके लिए कहते हैं --

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।

संसारगमणहेदुं, वि मोक्खहेउं अजाणंता।।१५४।।

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवसे दूर हैं वे

१. संपण्णो।

२. जेण तेण ते होंति अण्णाणी ज. वृ. ।

अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं। यद्यपि वह पुण्य संसारगमनका कारण है तो भी उसकी इच्छा करते हैं। ऐसे जीव मोक्षका हेतु जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसे नहीं जानते हैं।।१५४।।

आगे ऐसे जीवोंको परमार्थभूत मोक्षका कारण दिखलाते हैं --

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो।।१५५।।

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उनका ठीक ठीक जानना ज्ञान है और रागादिका त्याग करना चारित्र है। यह सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र ही मोक्षका मार्ग है।।१५५।।

आगे व्यवहार मार्गसे कर्मका क्षय नहीं होता यह कहते हैं --

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु, जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

विद्वान निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं, परंतु कर्मोंका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यतीश्वरोंके ही कहा गया है।।१५६।।

आगे कर्म मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंका आच्छादन करते हैं यह दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं, तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं, तह णाणं होदि[1] णायव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं, तह चारित्तं होदि णायव्वं।।१५९।।

जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूपी मलसे आच्छादित हो नष्ट हो जाता है यह निश्चयसे जानना चाहिए। जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानरूपी मलसे आच्छादित हुआ जीवका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिए। तथा जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कषायरूपी मलसे आच्छादित चारित्र गुण नष्ट हो रहा है यह भी जानना चाहिए।।१५७-१५९।।

---

१. होदिं ज . वृ.

आगे कर्मका स्वयमेव बंधपना सिद्ध करते हैं --

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, ण विजाणादि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

वह सबको जानने देखनेवाला आत्मा अपने कर्मरूपी रजसे आच्छादित हुआ संसार दशाको प्राप्त हो रहा है और सब तरहसे सब वस्तुओंको नहीं जानता है।।१६०।।

आगे कर्म सम्यग्दर्शनादि मोक्षके कारणोंको घातते हैं ऐसा निरूपण करते हैं --

सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।।१६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णायव्वो।।१६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं, कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णायव्वो।।१६३।।

सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्याकर्म है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है, उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिए। ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है, उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिए।।१६१-१६३।।

इस प्रकार पुण्यपापका प्ररूपण करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

***

आस्रवाधिकारः

आगे आस्रवका स्वरूप कहते हैं --

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे, तस्सेव अणण्णपरिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स, ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो, य रागदोसादिभावकरो।।१६५।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चेतन अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें जो चेतनरूप हैं वे जीवमें बहुत भेदोंको लिये हुए हैं तथा जीवके अभिन्न परिणामस्वरूप हैं। और जो अचेतनरूप हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण होते हैं। तथा उन मिथ्यात्वादि अचेतन भावोंका कारण रागद्वेषादि भावोंका करनेवाला जीव है।।१६४-१६५।।

आगे ज्ञानी जीवके उन आस्रवोंका अभाव होता है ऐसा कहते हैं --

णत्थि दु आसवबंधो, सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे, जाणदि सो ते अबंधंतो।।१६६।।

सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंध नहीं है, किंतु आस्रवका निरोध है। वह सत्तामें स्थित पहलेके बँधे हुए कर्मोंको केवल जानता है, नवीन बंध नहीं करता है।।१६६।।

आगे राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं ऐसा नियम करते हैं --

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरिं।।१६७।।

जीवके द्वारा किया हुआ जो भाव रागादिसे सहित है वह बंधका करनेवाला कहा गया है और जो रागादिसे रहित है वह बंधका नहीं करनेवाला है, किंतु जाननेवाला है।।१६७।।

आगे रागादि रहित शुद्ध भाव असंभव नहीं हैं यह दिखलाते हैं --

पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई[१]।।१६८।।

जिस प्रकार किसी वृक्षादिका फल पककर जब नीचे गिर जाता है तब वह फिर बोंडीके साथ संबंधको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जीवका कर्मभाव जब पककर गिर जाता है -- निर्जीर्ण हो चुकता है तब फिर उदयको प्राप्त नहीं होता।।१६८।।

आगे ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव दिखलाते हैं --

पुहवीपिंडसमाणा, पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते, बद्धा सव्वेपि णाणिस्स।।१६९।।

उस पूर्वोक्त ज्ञानी जीवके अज्ञान अवस्थासे बँधे हुए द्रव्यास्रवरूप सभी प्रत्यय पृथिवीके पिंडके समान हैं और कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं।।१६९।।

आगे ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों हैं? यह कहते हैं --

---

१. मुवेहि ज. वृ. ।

जह पुरिसेणाहारो, गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी, भावे उयरग्गिसंजुत्तो।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं, जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते, णय परिहीणा उ ते जीवा।।१८०।।

जिस प्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्निसे संयुक्त होकर अनेक प्रकार मांस, चर्बी, रुधिर आदि भावोंरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानीके पहले बँधे हुए जो प्रत्यय द्रव्यास्रव हैं वे बहुत भेदोंवाले कर्मोंको बाँधते हैं। वे जीव शुद्ध नयसे छूट जाते हैं।।१७९-१८०।।

इस प्रकार आस्रवका प्ररूपण करनेवाला चतुर्थ अंक पूर्ण हुआ।

***

संवराधिकारः

आगे संवराधिकारमें सर्वप्रथम कर्मोंके संवरका श्रेष्ठ उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं --

उवओए उवओगो, कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि, उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे, णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं, णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।
एयं तु अविवरीदं, णाणं जइआ उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि, भावं उवओगसुद्धप्पा।।१८३।।

उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिमें कोई उपयोग नहीं है। क्रोधमें क्रोध ही है, निश्चयसे उपयोगमें क्रोध नहीं है। आठ प्रकारके कर्ममें और नोकर्ममें उपयोग नहीं है तथा उपयोगमें कर्म और नोकर्म नहीं है। जिस समय जीवके यह अविपरीत ज्ञान होता है उस समय वह उपयोगसे शुद्धात्मा होता हुआ उपयोगके बिना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है।।१८१-१८३।।

आगे भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? इसका उत्तर कहते हैं --

जह कणयमग्गितवियं, पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी उ णाणित्तं।।१८४।।

एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो।।१८५।।

जिस प्रकार सुवर्ण अग्निसे तपाये जानेपर भी सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तप्त हुआ ज्ञानी ज्ञानीपनेको नहीं छोड़ता है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है परंतु अज्ञानी चूँकि अज्ञानरूपी अंधकारसे आच्छादित है अतः आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है।।१८४-१८५।।

आगे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर क्यों होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ।।१८६।।

शुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्माको पाता है।।१८६।।

आगे संवर किस प्रकार होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो, इच्छाविरओ य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को, झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं, चेदा चिंतेदि एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो, दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

जो जीव अपने आत्माको अपने आपके द्वारा शुभअशुभरूप दोनों योगोंसे रोककर दर्शनज्ञानमें स्थित हुआ अन्य पदार्थोंमें इच्छारहित है तथा समस्त परिग्रहसे रहित होता हुआ आत्माके द्वारा आत्माका ही ध्यान करता है। कर्म और नोकर्मका ध्यान नहीं करता, किंतु चेतनारूप होकर एकत्व[१] भावका चिंतन करता है वह आत्माका ध्यान करनेवाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्यवस्तुरूप नहीं होनेवाला जीव शीघ्र ही कर्मोंसे रहित आत्माको ही प्राप्त करता है।।१८७-१८९।।*

१. एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।। ज. वृ.।

* १८९ गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित दो गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है --
उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।।
कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।। ज. वृ.।

आगे किस क्रमसे संवर होता है यह कहते हैं --

तेसिं हेऊ[१] भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरयभावो य जोगो य।।१९०।।
हेउ अभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।
कम्मस्साभावेण य, णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य, संसारणिरोहणं होइ।।१९२।।

पूर्वमें कहे हुए उन रागद्वेषादि आस्रवोंके हेतु सर्वज्ञदेवने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग ये चार अध्यवसानभाव कहे हैं। ज्ञानी जीवके इन हेतुओंका अभाव होनेके कारण नियमसे आस्रवका निरोध होता है, आस्रवभावके विना कर्मोंका भी निरोध हो जाता है, कर्मोंका अभाव होनेसे नोकर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोंका निरोध होनेसे संसारका निरोध हो जाता है।।१९०-१९२।।

इस प्रकार पाँचवाँ संवर अधिकार पूर्ण हुआ।।

*

१. हेदू ज. वृ.

निर्जराधिकारः

आगे निर्जराका स्वरूप कहते हैं --

उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

सम्यग्दृष्टि जीव जो इंद्रियोंके द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सब ही निर्जराका निमित्त है।।१९३।।

आगे भावनिर्जराका स्वरूप बतलाते हैं --

दव्वे उवभुंजंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं, वेददि अहणिज्जरं जादि।।१९४।।

जब जीव उदयागत द्रव्यकर्मका उपभोग करता है तब नियमसे सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हुए उस सुख दुःखका सिर्फ वेदन करता है, किंतु तन्मय नहीं होता है इसलिए वह निर्जराको प्राप्त होता है।।१९४।।

आगे ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते हैं --

जस विसमुवभुज्जंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी।।१९५।।

जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि पुद्गल कर्मके उदयका उपभोग करता है तो भी बंधको प्राप्त नहीं होता।।१९५।।

आगे वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं --

जह मज्जं पिवमाणो, अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणी विण बज्झदि तहेव।।१९६।।

जिस प्रकार अरतिभावसे प्रीतिके बिना ही मदिराको पीनेवाला पुरुष मत्त नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मके उपभोगमें रत नहीं होनेवाला ज्ञानी पुरुष बंधको प्राप्त नहीं होता है।।१९६।।

आगे यही बात दिखलाते हैं --

सेवंतोवि ण सेवइ, असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्सवि, ण य पायरणोत्ति सो होई[1]।।१९७।।

---

१. होदि ज. वृ.।

कोई पुरुष विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है। जैसे किसी मनुष्यके कार्य करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण संबंधी समस्त कार्य करता है परंतु वह प्रकरणका स्वामी है ऐसा नहीं होता।।१९७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे निज और परको इसप्रकार जानता है यह कहते हैं --

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को।।१९८।।

कर्मोंके जो विविध प्रकारके उदयरस जिनेंद्रभगवानने कहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकभावरूप हूँ।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे निज और परके उदयको इस प्रकार जानता है यह कहते हैं --

पुग्गलकम्मं [1]रागो, तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो हु अहमिक्को।।१९९।।

राग नामका पुद्गल कर्म है। यह रागभाव उसीके विपाकका उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभावरूप हूँ।।१९९।। [2]

आगे इसका फलितार्थ कहते हैं --

एवं [3]सम्मद्दिट्ठी, अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं, य मुअदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्वको -- वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ उदयागत रागादिभावको कर्मका विपाक जानकर छोड़ता है।।२००।।

आगे सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।२०१।।

---

१. कोहो ज. वृ. ।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि।। ज. वृ.

२. ज. वृ. में १९९ के आगे निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है --

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी।।

३. सम्माइट्ठं ज. वृ. ।

अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।। जुम्मं

निश्चयसे जिस जीवके रागादिका परमाणुमात्र भी -- लेशमात्र भी विद्यमान है वह सर्वागमका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता है वह आत्मासे भिन्न परपदार्थको भी नहीं जानता है। इसप्रकार जो जीव अजीव दोनोंको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? ।।२०१-२०२।।

आगे वह पद क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

आदम्हि दव्वभावे, [1]अपदे मोत्तूण गिण्ह [2]तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं, उवलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

आत्मामें पर निमित्तसे हुए अपदरूप द्रव्यभावरूप सभी भावोंको छोड़कर निश्‍ंचित स्थिर एक तथा स्वभाव द्वारा उपलभ्यमान इस चैतन्यमात्र भावको तू ग्रहण कर।।२०३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान सामान्य रूपसे एक प्रकारका ही है। उसमें जो भेद हैं वे क्षयोपशम निमित्तसे हैं --

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो, जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये जो ज्ञानके भेद हैं वे वास्तवमें एकही पद हैं -- एक ही सामान्य ज्ञानस्वरूप हैं। और यही परमार्थ है जिसे पाकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।।२०४।।

आगे इसी अर्थका उपदेश करते हैं --

णाणगुणेण विहीणा, एयं तु पयं बहूवि ण लहंति।
तं गिण्ह [3]णियदमेदं, जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।२०५।।

यदि तू कर्मसे सर्वथा छुटकारा चाहता है तो इस निश्चित ज्ञानको ग्रहण कर, क्योंकि ज्ञानगुणसे रहित बहुत पुरुष इस पदको नहीं पाते हैं।।२०५।।

आगे फिर इसी बातको पुष्ट करते हैं --

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहहि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

१. अथिरे ज. वृ. । २. तव ज. वृ.। ३. सुपदमेदं ज. वृ.।

हे भव्य! तू निरंतर इस ज्ञानमें रत हो, इसीमें निरंतर संतुष्ट रह, इसीसे तृप्त हो, क्योंकि ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा।।२०६।।

आगे ज्ञानी परद्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करता? इसका उत्तर कहते हैं --

को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम[1] इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।।

नियमसे आत्माको ही अपना परिग्रह माननेवाला कौन विद्वान् ऐसा कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है?।।२०७।।

आगे युक्ति द्वारा इसका समर्थन करते हैं --

मज्झं परिग्गहो जइ, तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो तो मैं अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ, पर चूँकि मैं ज्ञाता हूँ अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।।२०८।।

आगे शरीरादि परद्रव्य मेरा परिग्रह किसी भी प्रकार नहीं हो सकता यह कहते हैं --

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, लहवि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि शरीरादि परद्रव्य छिद जावे, भिद जावे, कोई इसे ले जावे, अथवा विनाशको प्राप्त हो जावे अथवा जिस तिस तरह चली जावे तो भी मेरा परिग्रह नहीं है।।२०९।।

आगे इस अपरिग्रह भावको दृढ़ करनेके लिए पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं --

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई।।२१०।।

ज्ञानी परिग्रह रहित है इसलिए इच्छासे रहित कहा गया है। वह चूँकि इच्छारहित है अतः धर्मकी इच्छा नहीं करता। इसीलिए उसके धर्मका परिग्रह नहीं है, वह केवल धर्मका ज्ञायक है।।२१०।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स, जाणगो तेण सो होई।।२११।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह अधर्मकी इच्छा नहीं करता। उसके अधर्मका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ अधर्मका ज्ञायक है।।२११।।[2]

---

१. ममिदं ज. वृ.।   २. २११ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक है --
धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरिय णेरइयं।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो [1] णाणी य णिच्छदे असणं।

अपरिग्गहो दु असणस्स, जाणगो तेण सो होई।।२१२।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह भोजनकी इच्छा नहीं करता। उसके भोजनका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ भोजनका ज्ञायक है।।२१२।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।

अपरिग्गहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होई।।२१३।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह पानकी इच्छा नहीं करता। उसके पानका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ पानका ज्ञायक है।।२१३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी प्रकार अन्य परजन्य भावोंकी इच्छा नहीं करता है --

एमादिए [2] दु विविहे, सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।

जाणगभावो णियदो, णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

इनको आदि लेकर विविध प्रकारके समस्त भावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है। वह नियमसे ज्ञायकभाव है और अन्य सब वस्तुओं में आलंबनरहित है।।२१४।।

उप्पण्णोदयभोगी [3], विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।

कंखामणागयस्स य, उदयस्स ण कुव्वए णाणी।।२१५।।

ज्ञानी जीवके वर्तमानकालीन उदयका भोग निरंतर वियोगबुद्धिसे उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोगको नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रहबुद्धि नहीं करता और अनागत -- भविष्यत्कालीन भोगकी वह आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ -- भोग तीन प्रकारका है -- १. अतीत, २. वर्तमान और ३. अनागत। उनमें जो अतीत हो चुका है उसमें परिग्रह बुद्धि होना शक्य नहीं है। वर्तमान भोगको ज्ञानी जीव वियुक्त हो जानेवाला मानता है इसलिए उसमें परिग्रहभाव धारण नहीं करता तथा अनागत भोगमें आकांक्षारहित होता है। इसलिए तत्संबंधी परिग्रह भी उसके संभव नहीं है। इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है यह बात सिद्ध होती है।।२१५।।

आगे ज्ञानी जीव भोगकी आकांक्षा क्यों नहीं करता? इसका उत्तर देते हैं --

जो वेददि वेदिज्जदि, समए-समए विणस्सदे उहयं।

तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखइ कयावि।।२१६।।

---

१. भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी। ज. वृ.। २. इव्वादु एदु ज. वृ.। ३. उप्पोदयभोगे ज. वृ.।

जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय समयमें नष्ट होते रहते हैं। अर्थात् वेद्य-वेदक भाव क्रमसे होते हैं, अतः एक समयसे अधिक देरतक अवस्थित नहीं रहते। ज्ञानी जीव उन दोनों भावोंको जाननेवाला ही है, वह उनकी कभी भी आकांक्षा नहीं करता है।।२१६।।

आगे इस प्रकारके सभी उपभोगोंसे ज्ञानी विरक्त रहता है यह कहते हैं --

बंधुवभोगणिमित्ते, अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु, णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

बंध और उपभोगके निमित्तभूत, संसार और शरीरविषयक अध्यवसानके जो उदय हैं उनमें ज्ञानी जीवके राग उत्पन्न नहीं ही होता है।।२१८।।

आगे ज्ञानी कर्मबंधसे रहित होता है यह कहते हैं --

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।। [१]

ज्ञानी सब द्रव्योंमें रागका छोड़नेवाला है, इसलिए कर्मके मध्यगत होनेपर भी कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ सोना। परंतु अज्ञानी सब द्रव्योंमें रागी है अतः कर्मोंके मध्यगत होता हुआ कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिपा होता है जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ लोहा।।२१८-२१९।। [१]

आगे इसी बातको शंखके दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं --

भुंजंतस्सवि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो, णवि सक्कदि किण्णगो काउं।।२२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्सवि णाणं, ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।

---

१. २१९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नलिखित श्लोकोंकी व्याख्या अधिक उपलब्ध है --

णागफलीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण।।
कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ।
सम्मंणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि।।
झाणं हवेइ अग्गी तवमरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परम जोईहिं।।

जइया स एव संखो, सेद सहावं तयं पजहिदूण।

गच्छेज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।[१]

तह णाणी वि हु जइया, णाणसहावं तयं पजहिऊण।

अण्णाणेण परिणदो, तइया अण्णाणदं गच्छे।। २२३।।

जिस प्रकार यद्यपि शंख विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानताको प्राप्त नहीं कराया जा सकता। और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभावको छोड़कर कृष्ण भावको प्राप्त हो जाता है उस समय वह जिस श्वेतपनेको छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जिस समय उस ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञानस्वभावसे परिणत होता है उस समय अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ -- ज्ञानीके परकृत बंध नहीं है, वह आपही जब अज्ञानरूप परिणमन करता है तब स्वयं निजके अपराधसे बंधदशाको प्राप्त होता है।।२२०-२२३।।

आगे सराग परिणामोंसे बंध और वीतराग परिणामोंसे मोक्ष होता है यह दृष्टांत तथा दार्ष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

पुरिसो जह कोवि इह, वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।

तो सोवि देदि राया, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२४।।

एमेव जीवपुरिसो, कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।

तो सोवि देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२५।।

जह पुण सो चिय पुरिसो, वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।

तो सो ण देइ राया, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२६।।

एमेव सम्मदिट्ठी, विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।

तो सो ण देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२७।।

जिस प्रकार इस लोकमें कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो राजा भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग देता है, इसी प्रकार जीव नामा पुरुष सुखके निमित्त

१. २२२ और २२३ के मध्य ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है --

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजाहेदूण।

गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।

कर्मरूपी रजकी सेवा करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके सुख देता है। जिस प्रकार वही पुरुष वृत्ति के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंके लिए कर्मरूपी रज की सेवा नहीं करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है।।२२४-२२७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक तथा निर्भय होता है यह कहते हैं --

सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।२२८।।

सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि शंकारहित होते हैं इसलिए निर्भय हैं और चूँकि सप्तभयसे रहित हैं इसलिए शंकारहित हैं।

भावार्थ -- निर्भयता और निःशंकपनेमें परस्पर कार्यकारण भाव है।।२२८।।

आगे निःशंकित अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो चत्तारिवि पाए, छिंदंति ते [१]कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२२९।।

जो आत्मा कर्मबंधके कारण मोहके करनेवाले उन मिथ्यात्व आदि पापोंको काटता है उसे निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२२९।।

आगे निःकांक्षित अंगका स्वरूप कहते हैं --

[२]जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३०।।

जो आत्मा कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तुके स्वभावभूत समस्त धर्मोंमें वांछा नहीं करता है उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३०।।

आगे निर्विचिकित्सित अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो[३], सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३१।।

जो जीव वस्तुके सभी धर्मोंमें ग्लानि नहीं करता उसे निश्चयसे निर्विचिकित्सित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३१।।

आगे अमूढदृष्टि अंगका स्वरूप कहते हैं --

---

१. मोहबाध करे ज. वृ. । २. जो ण करेदि दु कंखं ज. वृ. । ३. गिंछो ज. वृ. ।

[१]जो हवइ असंमूढो, चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३२।।

जो जीव सब भावोंमें मूढ़ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टिवाला होता है उसे निश्चयसे अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३२।।

आगे उपगूहन अंग का लक्षण कहते हैं --

जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो [२]उवगूहणकारी, सम्मादिट्ठी [३]मुणेयव्वो।।२३३।।

जो सिद्धभक्तिसे युक्त हो समस्त धर्मोंका उपगूहन करनेवाला हो उसे उपगूहन अंगका धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३३।।

आगे स्थितिकरण अंगका लक्षण कहते हैं --

उम्मंगं गच्छंतं, [४]सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३४।।

जो जीव न केवल परको किंतु उन्मार्गमें जानेवाले अपने आत्माको भी समीचीन मार्गमें स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंगसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३४।।

आगे वात्सल्य अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो कुणदि वच्छलत्तं, तियेह [५] साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३५।।

जो जीव, आचार्य उपाध्याय तथा साधुरूप मुनियोंके त्रिकमें और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गमें वत्सलता करता है उसे वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३५।।

आगे प्रभावना अंगका स्वरूप कहते हैं --

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु[६] भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३६।।

जो जीव विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है उसे जिनेंद्रदेवके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३६।।

इस प्रकार निर्जराधिकार पूर्ण हुआ।

*

---

१. जो हवदि अंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु। ज. वृ.। २. उपगूहणगारी ज. वृ.। ३. मुणेदव्वो ज. वृ.।
४. शिवमग्गे ज. वृ.। ५. तिण्हे ज. वृ.। ६. मणोहरएसु हणदि जो चेदा ज. वृ.।

बन्धाधिकारः

आगे बंधका कारण कहते हैं

जह णाम कोवि पुरिसो, णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य, करेइ सत्थेहि वायामं।।२३७।।
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं।।२३८।।
उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु, किं पच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।
जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।
एवं मिच्छादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे, कुव्वंतो लिप्पइ रयेण।।२४१।।

यह प्रकट है कि जिस प्रकार शरीरमें तेल लगाये हुए कोई पुरुष बहुत धूलिवाले स्थानमें स्थित होकर शस्त्रोंद्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला बाँस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है, सचित्त अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बंध किंनिमित्तक है? उस मनुष्यमें जो स्नेहभाव है अर्थात् तेल के संबंधसे जो चिकनाई है उसीसे रजका बंध होता है यह निश्चयसे जानना चाहिए, शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे रजका बंध नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जो कि बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें वर्तमान है तथा अपने उपयोगमें रागादि भावोंको कर रहा है कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।।२३७-२४१।।

आगे उपयोगमें रागादिभाव न होनेसे सम्यग्दृष्टिके कर्मबंध नहीं होता है यह उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वम्हि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं।।२४३।।

उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु, किंपच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।
जो सो दुणेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४५।।
एवं सम्मादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रयेण।।२४६।।

जिस प्रकार फिर वही पुरुष समस्त चिकनाईके दूर किये जानेपर बहुत धूलिवाले स्थानमें शस्त्रोंद्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला बाँस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है, सचित्त-अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। यहाँ नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बंध नहीं हो रहा है सो किंनिमित्तक है? उस मनुष्यमें जो चिकनाई थी उसीसे रजका बंध होता था, शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे नहीं। यह निश्चयसे जानना चाहिए। अब चूँकि उस चिकनाईका अभाव हो गया है अतः रजका बंधभी दूर हो गया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो कि यद्यपि बहुत प्रकारके योगोंमें -- मन वचन कायके व्यापारोंमें प्रवर्तमान है तथापि उपयोगमें रागादि भाव नहीं करता है इसलिए कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता है।।२४२-२४६।।

आगे अज्ञानी और ज्ञानी जीवकी विचारधारा प्रकट करते हैं --

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२४७।।

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीवको मारता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।।२४७।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर देते हैं --

आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कयं तेसिं।।२४८।।
[१] आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुहं, कह ते मरणं कयं तेहिं।।२४९।।

जीवोंका मरण आयुके क्षयसे होता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है, तुम किसी जीवकी आयुका हरण नहीं करते हो, फिर तुमने मरण कैसे किया? आयुके क्षयसे जीवोंका मरण होता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।

१. यह गाथा ज. वृ. में नहीं है।

परजीव तुम्हारी आयुका हरण नहीं कर सकते, तब फिर उनके द्वारा तुम्हारा मरण किस तरह किया जा सकता है?।।२४८-२४९।।

आगे मरणसे विपरीत जीवित रहनेका जो अध्यवसाय है वह भी अज्ञान है ऐसा कहते हैं -

[1]जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विपरीदो।।२५०।।

जो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको जीवित करता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं जीवित होता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।।२५०।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं --

आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीवियं कयं तेसिं।।२५१।।
[2]आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं।।२५२।।

जीव आयु के उदयसे जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तुम किसीको आयु नहीं देते फिर तुमने उसका जीवन कैसे किया? आयुके उदयसे जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तुम्हें कोई आयु नहीं देता फिर उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया?।।२५१-२५२।।

आगे किसीको दुःखी-सुखी करनेका जो विचार है उसकी भी यही गति है यह कहते हैं --

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी सत्तो दु विवरीदो।।२५३।।

जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।।२५३।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर देते हैं --

[3]कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते।।२५४।।
कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।

---

१. यह गाथा ज. वृ.में नहीं है। २. यह गाथा भी ज. वृ. में नहीं है।

३. 'कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिवा हवंति जदि सत्ता' ज. वृ.

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

सब जीव कर्मके उदयसे यदि दुःखी-सुखी होते हैं तो तू उन्हें कर्म नहीं देता है, फिर तेरे द्वारा वे कैसे दुःखी-सुखी किये गये? यदि कर्मके उदयसे सब जीव दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर उनके द्वारा तू दुःखी कैसे किया गया? यदि समस्त जीव कर्मके उदयसे दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर तू उनके द्वारा सुखी कैसे किया गया?।।२५४-२५६।।

आगे इसी अर्थको फिर कहते हैं --

जो मरइ जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो, [१]सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५८।।

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब अपने कर्मोदयसे होता है इसलिए अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा मारा गया तथा अमुक व्यक्ति दुःखी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है। जो नहीं मरता है और नहीं दुःखी होता है वह सब यथार्थमें अपने कर्मोदयसे होता है इसलिए अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा नहीं मारा गया, नहीं दुःखी किया गया वह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है।।२५७-२५८।।

आगे उक्त विचार ही बंधके कारण हैं यह कहते हैं --

एसा दु जा मई दे, दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई, सुहासुहं बंधए कम्मं।।२५९।।

मैं जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूँ यह जो बुद्धि है सो मूढ़ बुद्धि है। यह मूढ़ बुद्धि ही शुभ अशुभ कर्मोंको बाँधती है।।२५९।।

आगे मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है यह कहते हैं --

दुक्खिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।
मारेमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ यह जो तेरा अध्यवसाय है सो वह ही पापका बंध करनेवाला

---

१. सो वि य कम्मोदेण खलु जीवो ज. वृ.

अथवा पुण्यका बंध करनेवाला होता है। मैं सब जीवोंको मारता हूँ अथवा जीवित करता हूँ यह जो तेरा अध्यवसाय है वही पापका बंध करनेवाला अथवा पुण्यका बंध करनेवाला होता है।।२६०-२६१।।

आगे हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह कहते हैं --

अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते [1] मारेउ मा व [2] मारेउ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स।।२६२।।

अध्यवसायसे बंध होता है, जीवोंको मारो अथवा मत मारो। यह निश्चय नयकी अपेक्षा जीवोंके बंधका संक्षेप है।।२६२।।

आगे हिंसाके अध्यवसायके समान असत्य वचन आदिका अध्यवसाय भी बंधका कारण है यह कहते हैं --

एवमलिये अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पावं।।२६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते, बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पुण्णं।।२६४।।

इसी प्रकार असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पापका बंध होता है तथा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहपनेके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पुण्यका बंध होता है।।२६३-२६४।।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है --

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

जीवोंके जो अध्यवसान है वह वस्तुके अवलंबनसे होता है, वस्तुसे बंध नहीं होता है। किंतु अध्यवसानसे बंध होता है।।२६५।।

आगे जीव जैसा अध्यवसाय करता है वैसी कार्यकी परिणति नहीं होती यह कहते हैं --

दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई, णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।

मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, बँधाता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ यह जो तेरी मूढ़ बुद्धि है वह निरर्थक है, इसलिए निश्चयसे मिथ्या है।।२६६।।

१. मारेहि ज. वृ.। २. मारेहि ज. वृ.।

आगे अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी किस प्रकार नहीं है यह कहते हैं --

अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे, ठिदा य ता किं करोसि तुमं।।२६७।।[1]

यदि जीव अध्यवसानके कारण कर्मसे बँधते हैं और मोक्षमार्गमें स्थित हुए कर्मसे छूटते हैं तो इसमें तू क्या करता है?

भावार्थ -- यह जो बाँधने-छोड़नेका अध्यवसान है उसने परमें कुछ भी नहीं किया। क्योंकि इसके न होनेपर जीव अपने सराग-वीतराग परिणामोंसे ही बंध-मोक्षको प्राप्त होता है और इसके होनेपर भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणामोंके अभावमें बंध-मोक्षको प्राप्त नहीं होता। इसलिए अध्यवसान परमें अकिंचित्कर होनेसे स्वार्थक्रियाकारी नहीं है।।२६७।।

आगे रागादिके अध्यवसानसे मोहित हुआ जीव समस्त परद्रव्योंको अपना समझता है यह कहते हैं --

सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुये य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।
धम्माधम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

जीव अध्यवसानके द्वारा समस्त तिर्यंच, नारकी, देव, मनुष्य पर्यायोंको अपना करता है, अनेक प्रकारके पुण्य-पापको अपना करता है तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, अलोक व लोक सभीको अपना करता है।।२६८-२६९।।

आगे कहते हैं कि जिन मुनियोंके उक्त अध्यवसान नहीं है वे कर्मबंधसे लिप्त नहीं हैं --

---

१. २६७ की गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक पाये जाते हैं --

कायेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं जु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
वाचाए दुक्खवेनिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
मणसावि दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
सच्छेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
कायेण च वाचा वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।। ज. वृ.

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणी।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति[१]।।२७०।।

ये तथा इस प्रकारके अन्य अध्यवसान जिन मुनियोंके नहीं होते वे मुनि अशुभ अथवा शुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते हैं।।२७०।।

आगे अध्यवसानकी नामावली कहते हैं --

बुद्धी ववसाओ वि य, अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं -- इनमें अर्थभेद नहीं है।।२७१।।

आगे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध है यह कहते हैं --

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
[२]णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। जो मुनि निश्चय नयके आश्रित हैं वे मोक्षको पाते हैं।।२७२।।

आगे अभव्यके द्वारा व्यवहार नयका आश्रय क्यों किया जाता है? इसका उत्तर कहते हैं -

वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु।।२७३।।

अभव्य जीव, जिनेंद्र भगवानके द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तपको करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है।।२७३।।

आगे कोई पूछता है कि अभव्यके तो ग्यारह अंग तकका ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहते हो? इसका उत्तर देते हैं --

मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करदि गुणं, असद्दहं तस्स णाणं तु।।२७४।।

मोक्ष तत्त्वकी श्रद्धा न करनेवाला अभव्य जो अध्ययन करता है उसका वह अध्ययन उसका कुछ

---

१. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ।। ज. वृ.

२. णिच्छयणसल्लीण ज. वृ.

भी गुण-लाभ नहीं करता है, क्योंकि उसके ज्ञानकी श्रद्धा नहीं है।।२७४।।

आगे फिर कोई पूछता है कि उसके धर्मका श्रद्धान तो है, उसका निषेध कैसे करते हो? इसका उत्तर देते हैं --

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह[१] पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु[२] सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५।।

वह अभव्य जीव धर्मका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और अनुष्ठानरूपसे स्पर्श करता है, परंतु भोगमें निमित्तभूत धर्मका श्रद्धान आदि करता है। कर्मक्षयमें निमित्तभूत धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता।

भावार्थ -- अभव्य जीव शुभ-योगरूप धर्मका श्रद्धानादि करता है जो कि सांसारिक भोगोंका कारण है। शुद्धोपयोगरूप धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता जो कि कर्मक्षयका कारण है।।२७५।।

आगे व्यवहारको प्रतिषेध्य और निश्चयको प्रतिषेधक कहा सो इनका क्या स्वरूप है? यह कहते हैं --

आयारादि णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
[३]छज्जीवणिकं च तहा, भणइ चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।
आदा खु मज्झ[४] णाणं, आदा में दंसण[५] [६]चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं[७], आदा मे संवरो[८] जोगो[९]।।२७७।।

आचारांग आदि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंको दर्शन जानना चाहिए, यह निकायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहार नय कहता है। और निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है ऐसा निश्चय नय कहता है।।२७६-२७७।।

आगे रागादिके होनेमें कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

जह फलिहमणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

---

१. पुणो वि ज. वृ.। २. हु ज. वृ.। ३. छज्जीवाणं रक्खा ज. वृ.। ४. णाणे। ५. दंसणे। ६.चरित्ते। ७. पच्चक्खाणे। ८. संवरे। ९. जोगे ज. वृ.।

जैसे स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है, वह राग-लालिमा आदिरूप स्वयं परिणमन नहीं करता, किंतु अन्य लाल आदि द्रव्योंसे लाल आदि रंग रूप हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी स्वयं शुद्ध है, वह राग-प्रीति आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किंतु अन्य रागादि दोषोंसे रागादि रूप हो जाता है।।२७८-२७९।।

आगे ज्ञानी रागादिका कर्ता क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं --

ण[१] य रायदोस मोहं, कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।।२८०।।

ज्ञानी स्वयं राग द्वेष मोह तथा कषायभावको नहीं करता है इसलिए वह उन भावोंका कर्ता नहीं है।। २८०।।

आगे अज्ञानी रागादिका कर्ता है यह कहते हैं --

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[२]तेहिं दु परिणमंतो, रायाई बंधदि पुणोवि।।२८१।।

राग, द्वेष और कषाय कर्मके होनेपर जो भाव होते हैं उनसे परिणमता हुआ अज्ञानी जीव रागादिको बार बार बाँधता है।।२८१।।

आगे उक्त कथनसे जो बात सिद्ध हुई उसे कहते हैं --

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[३]तेहिं दु परिणमंतो, रायाई बंधदे चेदा।।२८२।।

राग, द्वेष और कषाय कर्मके रहते हुए जो भाव होते हैं उनसे परिणमता आत्मा रागादिको बाँधता है।।२८२।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि जब अज्ञानीके रागादिक फिर कर्मबंधके कारण हैं तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा रागादिकका अकर्ता ही है? इसका समाधान करते हैं --

अपडिक्कमणं दुविहं, अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
[४]एएणुवएसेण य, अकारओ वण्णिओ चेया।।२८३।।
अपडिक्कमणं दुविहं, दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
[५]एएणुवएसेण य, अकारओ वण्णिओ चेया।।२८४।।

---

१. णवि ज. वृ. २. ते सम ज. वृ.। ३. ते मम दु ज. वृ.। ४. एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा। ज. वृ.।
५. एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा। ज. वृ.।

[१]जावं अपडिक्कमणं, अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।

[२]कुव्वइ आदा तावं, कत्ता सो होइ णायव्वो।।२८५।।

जिस प्रकार अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिए। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है -- एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है -- एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इस उपदेशसे आत्मा अकारक है। जब आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह आत्मा कर्ता होता रहता है यह जानना चाहिए।।२८३-२८५।।

आगे द्रव्य और भावमें जो निमित्त नैमित्तिकपना है उसे उदाहरणद्वारा स्पष्ट करते हैं --

[३]आधाकम्माईया, पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।

कह ते कुव्वइ णाणी, परदव्वगुणा उ जे णिच्चं।।२८६।।

आधाकम्मं उद्देसियं, च पुग्गलसयं इमं दव्वं।

कह तं मम होइ कयं, जं णिच्चमचेयणं उत्तं।।२८७।।

अधःकर्मको आदि लेकर पुद्गल द्रव्यके जो दोष हैं उन्हें ज्ञानी कैसे कर सकता है? क्योंकि ये निरंतर परद्रव्यके गुण हैं। और यह जो अधःकर्म तथा उद्देश्यसे उत्पन्न हुआ पुद्गल द्रव्य है वह मेरा कैसे हो सकता है? वह तो निरंतर अचेतन कहा गया है।

भावार्थ -- जो आहार पापकर्मके द्वारा उत्पन्न हो उसे अधःकर्मनिष्पन्न कहते हैं और जो आहार किसीके निमित्त बना हो उसे औद्देशिक कहते हैं। मुनिधर्ममें उक्त दोनों प्रकारके आहार दोषपूर्ण माने गये हैं। ऐसे आहारको जो सेवन करता है उसके वैसे ही भाव होते हैं, क्योंकि लोकमें प्रसिद्ध है कि जो जैसा अन्न खाता है उसकी बुद्धि वैसी ही होती है। इस प्रकार द्रव्य और भावका निमित्त नैमित्तिकपना जानना चाहिए। द्रव्यकर्म निमित्त हैं और उसके उदयमें होनेवाले रागादि भाव नैमित्तिक हैं। अज्ञानी जीव परद्रव्यको ग्रहण करता है -- उसे अपना मानता है, इसलिए उसके रागादिभाव होते हैं। उनका वह कर्ता भी होता है और उसके फलस्वरूप कर्मका बंध भी करता है, परंतु ज्ञानी जीव किसी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता -- अपना नहीं मानता। इसलिए उसके तद्विषयक रागादिभाव उत्पन्न नहीं होते। उनका यह कर्ता नहीं होता और फलस्वरूप नूतन कर्मोंका बंध नहीं करता।।२८६-२८७।।

इस प्रकार बंधाधिकार पूर्ण हुआ।

*

१.जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं २. कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो। ज. वृ. ।

३. आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा। कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा।।

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल मयं इमं सव्वं। कह तं मम कारविदं जं णिच्चं मचेदणं वुत्तं।। ज. वृ.

मोक्षाधिकारः

आगे जो पुरुष बंधका स्वरूप जानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, उसके नष्ट करनेका प्रयास नहीं करते उनके मोक्ष नहीं होता यह कहते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, बंधणायम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं, कालं च वियाणए तस्स।।२८८।।
जइ णवि कुणइ च्छेदं, ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएणवि, ण सो णरो पावइ विमोक्खं।।२८९।।
इय कम्मबंधणाणं, [१]पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ, [२]मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो।।२९०।।

जिस प्रकार कोई पुरुष बंधनमें बहुत कालका बँधा हुआ उस बंधनके तीव्र मंद स्वभाव तथा समयको जानता है, परंतु उसका छेदन नहीं करता है तो वह पुरुष बंधनका वशीभूत हुआ बहुत कालमें भी उससे मोक्ष - छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबंधके प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग रूप भेदोंको जानता हुआ भी उनका छेदन नहीं करता वह कर्मबंधनसे मुक्त नहीं होता है। यदि वह शुद्ध होता है -- रागादि भावोंको दूर कर अपनी परिणतिको निर्मल बनाता है तो मुक्त होता है।।२८८-२९०।।

आगे बंधकी चिंता करनेपर भी बंध नहीं कटता है यह कहते हैं --

जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण [३]पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो, जीवोवि ण [४]पावइ विमोक्खं।।२९१।।

जैसे बंधनसे बँधा हुआ पुरुष बधनकी चिंता करता हुआ भी उससे मोक्ष -- छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार कर्मबंधकी चिंता करता हुआ जीव भी उससे मोक्षको नहीं पाता है।।२९१।।

आगे तो फिर मोक्षका कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

जह बंधे [५]छित्तूण य, बंधणबद्धो उ [६]पावइ विमोक्खं।
तह बंधे [७]चित्तूण य, जीवो [८]संपावइ विमोक्खं।।२९२।।

---

१. पदेशपयडिट्ठिदीय ज. वृ.।

२. मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो। ज. वृ.। (मुंचदि सव्वे जदि स बंधे) पाठान्तरम्। ज. वृ.।

३-४. पावदि। ज. वृ.। ५. मुत्तूण य। ६. पावदि। ७. मुत्तूण य। ८. संपावदि ज. वृ.।

जिस प्रकार बंधनसे बँधा हुआ पुरुष बंधनोंको छेदकर मोक्षको पाता है उसी प्रकार जीव कर्मबंधनोंको छेदकर मोक्षको पाता है।।२९२।।

आगे क्या यही मोक्षका हेतु है या अन्य कुछ भी? इसका उत्तर देते हैं --

बंधाणं च सहावं, वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु [१]जो विरज्जदि, सो कम्मविमोक्खणं [२]कुणई।।२९३।।

जो बंधोंका स्वभाव और आत्माका स्वभाव जानकर बंधोंमें विरक्त होता है वह कर्मोंका मोक्ष करता है।।२९३।।

आगे पूछते हैं कि आत्मा और बंध पृथक् पृथक् किससे किये जाते हैं --

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण [३]उ, छिण्णा णाणत्तमावण्णा।।२९४।।

जीव और बंध ये दोनों अपने-अपने नियम लक्षणोंसे बुद्धिरूपी छैनीके द्वारा इस प्रकार छेदे जाते हैं कि वे नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं।।२९४।।

आगे कोई पूछता है कि आत्मा और बंधको द्विधा करके क्या करना चाहिए? इसका उत्तर कहते हैं --

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएवव्वो[४], सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।।२९५।।

अपने अपने निश्चित लक्षणोंके द्वारा जीव और बंधको उस तरह भिन्न करना चाहिए जिस तरह कि बंध छिद जावे और शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे।।२९५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा और बंधको द्विधा करनेका यही प्रयोजन है कि बंधको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे --

कह सो घिप्पइ[५] अप्पा, पण्णाए सो उ घिप्पए[६] अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो, तह पण्णाएव घित्तव्वो।।२९६।।

शिष्य पूछता है कि उस आत्माका ग्रहण किस प्रकार होता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा उस आत्माका ग्रहण होता है। जिस प्रकार प्रज्ञासे उसे पहले भिन्न किया था उसी प्रकार प्रज्ञासे ही उसे ग्रहण करना चाहिए।।२९६।।

आगे पूछते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा आत्माका ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए? --

---

१. जो ण रज्जदि ज. वृ.। २. कुणदि ज. वृ.। ३. दु ज. वृ.। ४. छेदेदव्वो ज. वृ.। ५. घिप्पदि ज. वृ.। ६. घिप्पदे ज.वृ.।

पण्णाए घित्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।।२९७।।

जो चेतनस्वरूप आत्मा है वह निश्चयसे मैं हूँ इस प्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिए और बाकी जो भाव हैं वे मुझसे परे हैं ऐसा जानना चाहिए।।२९७।।

आगे मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ ऐसा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिए --

पण्णाए घित्तव्वो, जो दट्ठा अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।।२९८।।
पण्णाए घित्तव्वो, जो आदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा।।२९९।।

प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो द्रष्टा है -- देखनेवाला है वह निश्चयसे मैं हूँ और अवशिष्ट जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है निश्चयसे मैं हूँ, बाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए।।२९८-२९९।।

आगे इसी बातका समर्थन करते हैं --

को णाम भणिज्ज बुहो, [१]णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।३००।।

शुद्ध आत्माको जानता हुआ कौन ज्ञानी समस्त परभावोंको जानकर ऐसे वचन कहेगा कि ये भाव मेरे हैं? अर्थात् कोई नहीं।।३००।।

आगे अपराध बंधका कारण है यह दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

[२]थेयाई अवराहे, कुव्वदि जो सो उ[३] संकिदो भमइ।
मा वज्झेज्जं[४] केणवि, चोरोत्ति जणम्मि[५] वियरंतो।।३०१।।
जो ण कुणइ[६] अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
ण वि तस्स वज्झिदुं[७] जे, चिंता उप्पज्जदि कयाइ[८]।।३०२।।
एवं हि सावराहो, वज्झामि अहं तु संकिदो चेया[९]।
जइ[१०] पुण णिरवराहो, णिस्संकोहं ण वज्झामि।।३०३।।

१. णाउं सव्वे परोदए भावे ज. वृ.।   २. तेयादी। ३. ससंकिदो। ४. वज्झेहं। ५. जणसि। ६. कुणदि। ७. वज्झिद। ८. कयावि। ९. चेदा। १०. जो ज. वृ.।

जो पुरुष चोरी आदि अपराधोंको करता है वह इस प्रकार शंकित होकर घूमता है कि मैं मनुष्योंमें विचरण करता हुआ 'चोर है' यह समझकर बाँधा न जाऊँ? इसके विपरीत जो अपराध नहीं करता वह निःशंक होकर देशमें घूमता है, उसे बँधनेकी चिंता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यदि मैं अपराध सहित हूँ तो बँधूँगा इस शंकासे युक्त आत्मा रहता है। और यदि मैं निरपराध हूँ तो निःशंक हूँ और कर्मोंसे बंधको प्राप्त नहीं होऊँगा।।३०१-३०३।।

आगे यह अपराध क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

संसिद्धिराधसिद्धं, [1]साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु, चेया सो होइ अवराधो।।३०४।।
[2]जो पुण णिरवराधो, चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणए णिच्चं, वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थ हैं। इसलिए जो आत्मा राधसे रहित हो वह अपराध है। और जो आत्मा निरपराध है -- अपराधसे रहित है वह निःशंकित है तथा 'मैं हूँ' इस प्रकार जानता हुआ निरंतर आराधनासे युक्त रहता है।

भावार्थ -- शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनको राध कहते हैं। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध पुरुषके बंधकी शंका संभव है इसलिए वह अनाराधक है और निरपराध पुरुष निःशंक हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है उस समय बंधकी चिंता नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तपका एकभावरूप जो निश्चय आराधना है उसका आराधक होता है।।३०४-३०५।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्माकी उपासनासे क्या फल है? क्योंकि प्रतिक्रमणादिके द्वारा ही सापराध आत्मा शुद्ध हो जाती है। अप्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर नहीं होता इसलिए उन्हें अन्यत्र विषकुंभ कहा है और प्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर हो जाता है इसलिए अमृतकुंभ कहा है[3]। इसका उत्तर कहते हैं --

---

१. ..... 'साधिदमाराधिकं च एयट्ठो। अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो ' ज. वृ।

२. यह गाथा ज. वृ. में नहीं है।

३. उक्तं च व्यवहारसूत्रे आ. वृ. , तथा चोक्ते चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे --

अपडिक्कमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहा सोहीय विसकुंभो।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अटठ्ठविहो अमयकुंभो दु।।

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती[1] य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो होइ विसकुंभो।।३०६।।
अपडिकमणं अपडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा, गरहा सोही अमयकुंभो।।३०७।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकारका विषकुंभ[1] होता है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकारका अमृतकुंभ होता है।।

भावार्थ -- यद्यपि द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोषके मेंटनेवाले हैं परंतु शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है। शुद्ध आत्माके आलंबनके बिना द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोषस्वरूप ही है। मोक्षमार्गमें उसी व्यवहार नय का आलंबन ग्राह्य माना गया है जो निश्चय की अपेक्षा से सहित होता है। अज्ञानी जीव के प्रतिक्रमणादि विषकुंभ तो हैं ही, परंतु ज्ञानी जीवके भी व्यवहार चारित्र में जो प्रतिक्रमणादि कहे हैं वे भी निश्चय कर विषकुंभ ही हैं, यथार्थमें आत्मा प्रतिक्रमणादि रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है ऐसा जानना चाहिए।।३०६-३०७।।

इस प्रकार मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

*

१. परिहरणं धारणा णियत्ती य। ज. वृ.

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आगे आत्मा अकर्ता है यह दृष्टांतपूर्वक कहते हैं --

दवियं जं उपज्जइ, गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु[1], जे परिणामा दु देसिया[2] सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा, तेहिमणण्णं वियाणाहि।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि, कारणमवि तेण ण स होइ।।३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पजंति[3] य णियमा, सिद्धी दु ण दीसए[4] अण्णा।।३११।।

इस लोकमें जिसप्रकार सुवर्ण अपने कटकादि पर्यायोंसे अनन्य -- अभिन्न है उसी प्रकार जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उसे उन गुणोंसे अनन्य -- अभिन्न जानो। आगममें जीव और अजीव द्रव्यके जो पर्याय कहे गये हैं जीव और अजीव द्रव्यको उनसे अभिन्न जानो। चूँकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए कार्य नहीं है और न किसीको उत्पन्न करता है इसलिए वह कारण भी नहीं है। कर्मको आश्रय कर कर्ता होता है और कर्ताको आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। कर्ता कर्मकी सिद्धि अन्यप्रकार नहीं देखी जाती।।३०८-३११।।

आगे आत्माका ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ जो बंध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है यह कहते हैं --

[5]चेया उ पयडीयट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।
एवं बंधो उ दुण्हं पि, अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य, संसारो तेण जायए[6]।।३१३।।

आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्तसे उत्पन्न होता है तथा विनाशको प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्माके लिए उत्पन्न होती है तथा विनाशको प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों आत्मा और प्रकृति

१. य। २. देसिदा ३. उप्पज्जंते। ४. दिस्सदे ज. वृ। ५. चेदा ज. वृ.। ६. अनुष्टुप् छन्दः।

के परस्पर निमित्तसे बंध होता है और उस बंधसे संसार उत्पन्न होता है।।३१२-३१३।।

आगे कहते हैं कि जब तक आत्मा प्रकृतिके निमित्त उपजना विनशना नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयत रहता है --

जा एसो पयडीयट्ठं, चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव, मिच्छाइट्ठी असंजओ।।३१४।।
जया विमुंचए चेया, कम्मप्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ, जाणओ पासओ मुणी।।३१५।।

यह आत्मा जब तक प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी होता है तथा जब आत्मा अनंत कर्मफलको छोड़ देता है तब बंधसे रहित हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और मुनि - संयमी होता है।।३१४-३१५।।

आगे अज्ञानी ही कर्मफलका वेदन करता है , ज्ञानी नहीं यह कहते हैं --

अण्णाणी कम्मफलं, पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ[1]।
णाणी पुण कम्मफलं, जाणइ[2] उदियं ण वेदेइ।।३१६।।

प्रकृतिके स्वभावमें स्थित हुआ अज्ञानी जीव कर्मके फलको भोगता है और ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता है, भोगता नहीं है।।३१६।।[3]

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम करते हैं --

ण मुयइ पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा हुंति।।३१७।।

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रोंको पढ़कर भी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है, क्योंकि साँप गुड़ और दूध पीकर भी निर्विष नहीं होते।।३१७।।

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है यह नियम करते हैं --

णिव्वेयसमावण्णो, णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ[4]।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ[5] तेण सो होई।।३१८।।

---

१. वेदेदि ज. वृ.। २. जाणदि उदिदं ण वेदेदि ज. वृ.।

३. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो।।

४. वियाणादि ज. वृ.। ५. मवेदको तेण पण्णत्तो ज. वृ.।

वैराग्यको प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके [1]मधुर - शुभ और कटुक [2]- अशुभ कर्मोंके फलको जानता है इसलिए वह अवेदक -- अभोक्ता होता है।।३१८।।

आगे इसी अर्थका समर्थन करते हैं --

णवि कुव्वइ[3] णवि वेयइ[4] णाणी कम्माइं[5] बहुपयाराइ[6]।
जाणइ[7] पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च।। ३१९।।

ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंको न तो करता है और न भोगता है, परंतु कर्मके बंधको और पुण्य-पापरूपी कर्मके फलको जानता है।।३१९।।

आगे इसी बातको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं --

[8]दिट्ठि जहेव णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव।
[9]जाणइ य बंधमोक्खं, कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

जिस प्रकार नेत्र पदार्थोंको देखता मात्र है, उनका कर्ता और भोक्ता नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, बंध और मोक्षको तथा कर्मोदय और निर्जराको जानता मात्र है, उनका कर्ता और भोक्ता नहीं है।।३२०।।

आगे आत्माको जो कर्ता मानते हैं वे अज्ञानी हैं और उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त होता यह कहते हैं --

लोयस्स[10]कुणइ[11]विण्हू, सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा, जइ[12] कुव्वइ[13] छव्विहे काये[14]।।३२१।।
लोगसमणाणमेयं, सिद्धंतं [15]जइ ण दीसइ विसेसो।।
लोयस्स[16] कुणइ[17] विण्हू समणाणवि[18] अप्पओ कुणइ[19]।।।३२२।।
एवं ण कोवि मोक्खो[20], दीसइ[21]लोयसमणाण दोण्हंपि।
णिच्चं कुव्वंताणं, सदेवमणुयासुरे[22] लोए[23]।।३२३।।

लोक सामान्य -- जनसाधारण का कहना है कि देव नारकी तिर्यंच और मनुष्यरूप प्राणियोंको विष्णु करता है, फिर मुनियोंका भी यह सिद्धांत हो जावे कि छह प्रकारके कायको -- षट् कायिक जीवोंको

---

१. शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति।

२. अशुभकर्मफलं निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति। ज. वृ.।

३. कुव्वदि। ४. वेददि। ५. कम्माइ ६. बहुपयाराइ। ७. जाणदि ज. वृ.। ८. दिट्ठी सयंपि ज. वृ.। ९. जाणदि ज. वृ.। १०. लोगस्स। ११. कुणदि। १२. जदि। १३. कुव्वदि। १४. काए। १५. पडि ण दिस्सदि विसेसो। १६. लोगस्स। १७. कुणदि। १८. समणाणं। १९. कुणदि। २०. मुक्खो। २१. दीसदि दुण्हं समणलोयाणं। २२. सदेव मणुआसुरे। २३. लोगे ज. वृ.।

आत्मा करता है तो लोक सामान्य और मुनियोंका एक ही सिद्धांत हो जावे, उनमें कुछ भी विशेषता न दिखे, क्योंकि लोकसामान्यके मतसे विष्णु करता है और मुनियोंके मतसे आत्मा करता है। इस तरहकी मान्यता होनेपर लोक सामान्य और युक्ति दोनोंको ही मोक्ष नहीं दिखेगा, क्योंकि दोनों ही देव मनुष्य असुर सहित लोकोंको निरंतर करते रहते हैं।

भावार्थ -- जो आत्माको कर्ता मानते हैं वे मुनि होनेपर भी लौकिक जनके समान हैं, क्योंकि लौकिक जन ईश्वरको कर्ता मानते हैं और मुनिजन आत्माको कर्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनोंको ही मोक्षका अभाव प्राप्त होता है।।३२१-३२३।।

आगे निश्चयनय से आत्माका पुद्‌गल द्रव्यके साथ कर्तृ-कर्म संबंध नहीं है तब उनका कर्ता कैसे होगा? यह कहते है --

ववहारभासिएण[१] उ[२], परदव्वं मम भणंति [३]अविदियत्था।
जाणंति णिच्चयेण उ[४], ण य मह परमाणुमिच्चमवि[५] किंचि।।३२४।।
जह कोवि णरो जंपइ[६], अम्हं[७] गामविसयणयररट्ठं[८]।
ण य होंति[९] ताणि तस्स उ[१०], भणइ[११] य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।
एमेव मिच्छदिट्ठी, णाणी णिस्संसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि, जाणंतो अप्पयं कुणइ।। ३२६।।
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा[१२], [१३]दोण्हं वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो, जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं[१४]।।३२७।।

पदार्थके यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष व्यवहारनयके वचनसे कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है' और जो निश्चय नयसे पदार्थोंको जानते हैं वे कहते हैं कि 'परमाणु मात्र भी कोई परद्रव्य मेरा नहीं है।' तहाँ व्यवहार नयका कहना ऐसा है कि जैसे कोई पुरुष कहता है कि 'हमारा ग्राम है, देश है, नगर है और राष्ट्र है', वास्तवमें विचार किया जाय तो ग्रामादिक उसके नहीं हैं, वह आत्मा मोहसे ही मेरा मेरा कहता है। इस प्रकार जो परद्रव्यको मेरा है ऐसा जानता हुआ उसे आत्ममय करता है वह ज्ञानी निःसंदेह मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ज्ञानी 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर परद्रव्यमें इन लोक साधारण तथा मुनियों -- दोनोंके ही कर्तृव्यवसायको जानता हुआ जानता है कि ये सम्यग्दर्शनसे रहित हैं।।३२४-३२७।।

आगे जीवके मिथ्यात्वभाव है उसका कर्ता कौन है? यह युक्तिसे सिद्ध करते हैं --

---

१. .... भासिदेण। २. दु। ३. विदिदच्छा। ४. दु। ५. मित्त मम। ज. वृ.।६. जपदि। ७. अम्हाणं ८. .... पुररट्ठं। ९. हुंति। १०. दु। ११. भणदि। १२. णच्चा। १३. दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ। १४. दिट्ठिरहिदाणं। ज. वृ.।

मिच्छत्तं जइ पयडी, मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।

तम्हा अचेदणा दे, पयडी णाणु कारगोपत्तो[१]।।३२८।।

अहवा एसो जीवो, पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।

तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।

अह जीवो पयडी तह, पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।

तम्हा दोहिय कदं, तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।

अह ण पयडी ण जीवो, पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।

तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

यदि मिथ्यात्व नामा प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो अचेतन प्रकृति तुम्हारे मतमें जीवके मिथ्याभावको करनेवाली ठहरी ऐसा बनता नहीं है। अथवा ऐसा माना जाय कि यह जीव ही पुद्‌गल द्रव्यके मिथ्यात्वको करता है तो ऐसा माननेसे पुद्‌गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ, न कि जीव, ऐसा नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्‌गल द्रव्यके मिथ्यात्व करते हैं तो दोनोंके द्वारा किये हुए उसके फलको दोनों ही भोगें ऐसा ठहरा, सो यह भी नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि पुद्‌गल नामा मिथ्यात्वको न तो प्रकृति करती है और न जीव ही, तो भी पुद्‌गल द्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ, सो ऐसा मानना क्या यथार्थमें मिथ्या नहीं है? अर्थात् मिथ्या ही है।

भावार्थ -- मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे आत्मामें जो अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव उत्पन्न होता है उसका कर्ता अज्ञानी जीव है, परंतु इसके निमित्तसे पुद्‌गल द्रव्यमें मिथ्यात्वकर्मकी शक्ति उत्पन्न होती है।।३२८-३३१।।

आगे इसी बातको विस्तारसे कहते हैं --

कम्मेहि दु अण्णाणी, किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।

कम्मेहिं सुवाविज्जइ, जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।।३३२।।

कम्मेहि सुहाविज्जइ, दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।

कम्मेहि य मिच्छत्तं, णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव।।३३३।।

कम्मेहि भमाडिज्जइ, उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य।

कम्मेहि चेव किज्जइ, सुहासुहं जित्तियं किंचि।।३३४।।

---

१. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।

तम्हा अचेदणा दे पयडी णाणु कारगोपत्तो।।

जम्हा कम्मं कुव्वइ, कम्मं देई हरत्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वे जीवा, अकारया हुंति आवण्णा।।३३५।।
पुरुसिच्छियाहिलासी, इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरं,परागया एरिसि दु सुई।।३३६।।
तम्हा ण कोवि जीवो, अबंभचारी उ अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसइ इदि भणियं।।३३७।।
जम्हा घाएइ परं, परेण घाइज्जइ य सा पयडी।
एएणच्छेण किर, भण्णइ परघायणामित्ति।।३३८।।
तम्हा ण कोवि जीवो, बघायओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं घाएदि इदि भणियं।।३३९।।
एवं संखुवएसं, जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ, अप्पा य अकारया सव्वे।।३४०।।
अहवा मणसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो, तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कइ तत्तो, हीणो अहिओ य काउं जे।।३४२।।
जीवस्स जीवरूवं, विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो, अहिओ व कहं कुणइ दव्वं।।३४३।।
अह जाणओ उ भावो, णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ।।३४४।।

जीव कर्मोंके द्वारा अज्ञानी किया जाता है उसी तरह कर्मोंके द्वारा ज्ञानी होता है। कर्मोंके द्वारा सुलाया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा जगाया जाता है। कर्मोंके द्वारा सुखी किया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा दुःखी किया जाता है। कर्मोंके द्वारा मिथ्यात्वको प्राप्त किया जाता है, कर्मोंके द्वारा असंयमको प्राप्त कराया जाता है। कर्मोंके द्वारा ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यग्लोकमें घुमाया जाता है। और जो कुछ भी शुभाशुभ कार्य है वह सब कर्मोंके द्वारा किया जाता है। क्योंकि कर्मही करता है और कर्म ही देता है तथा जो कुछ हरा जाता है वह कर्म ही हरता है, इसलिए सभी जीव अकारक प्राप्त हुए अर्थात् जीव कर्ता न

होकर कर्म ही कर्ताको प्राप्त हुआ। यह आचार्य परंपरासे आयी हुई ऐसी श्रुति है कि पुरुषवेद कर्म स्त्रीकी इच्छा करता है और स्त्रीवेद नामा कर्म पुरुषकी चाह करता है, अतः कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। हमारे उपदेशमें तो ऐसा ही है कि धर्म ही कर्मको चाहता है ऐसा कहा गया है। जिस कारण जीव दूसरेको मारता है और दूसरेके द्वारा मारा जाता है वह भी प्रकृति ही है। इस अर्थमें यह बात कही जाती है कि यह परघात नामक प्रकृति है, अतः हमारे उपदेशमें कोई भी जीव उपघात करनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्मही कर्मको घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो कोई मुनि ऐसे सांख्य मतका प्ररूपण करते हैं उनके प्रकृति ही करती है और सब आत्मा अकारक -अकर्ता है। अथवा तू ऐसा मानेगा कि मेरा आत्मा मेरे आत्माको करता है तो ऐसा जाननेवाले तुम्हारा यह मिथ्यास्वभाव है, क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी आगममें कहा गया है। उन असंख्यात प्रदेशोंसे वह हीनाधिक नहीं किया जा सकता। जीवका जीवरूप विस्तारकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण जानो। वह जीवद्रव्य उस परिमाणसे क्या हीन तथा अधिक कैसे कर सकता है। अथवा ऐसा मानिए कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव कर स्थित है तो उस मान्यतासे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने स्वभाव कर स्थिर रहता है और उसी हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने आपको स्वयमेव नहीं करता है।।३३२-३४४।।

आगे क्षणिकवादको स्पष्ट कर उसका निषेध करते हैं --

केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि, सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।
केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
जो चेव कुणइ सो चिय, ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।

यतः जीव नामा पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिए वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकांत नहीं है। यतः जीव कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिए वही जीव भोगता है अथवा अन्य भोगता है ऐसा एकांत नहीं है। इसके विपरीत जिसका ऐसा सिद्धांत है कि जो करता है वह नहीं भोगता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है तथा अर्हंत मतसे बाह्य है ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धांत है कि अन्य करता है और दूसरा कोई भोगता है वह जीव भी मिथ्यादृष्टि तथा अर्हंत मतसे बाह्य जानना

चाहिए।।३४५-३४८।।

आगे इसी बातको दृष्टांतसे कहते हैं --

जह सिप्पिओ उ कम्मं, कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि ण य तम्मओ होइ।।३४९।।
जह सिप्पिओ उ करणेहिं, कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं, कुव्वइ ण य तम्मओ होइ।।३५०।।
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ, गिण्हइ ण य तम्मओ होइ।।३५१।।
जह सिप्पिउ कम्मफलं, भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं, भुंजइ ण य तम्मओ होइ।।३५२।।
एवं ववहारस्स उ, वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकयं तु जं होई।।३५३।।
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं, कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वइ हवइ य अणण्णी से।।३५४।।
जह चिट्ठं कुव्वतो, उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो, तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

जिस प्रकार सुनार आदि शिल्पी आभूषण आदि कर्मको करता है परंतु वह आभूषणादिसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी पुद्गलात्मक कर्मको करता है परंतु उससे तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणोंसे कर्म करता है परंतु वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी योग आदि करणोंसे कर्म करता है परंतु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी करणोंको ग्रहण करता है परंतु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव करणोंको ग्रहण करता है परंतु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी आभूषणादि कर्मोंके फलको भोगता है परंतु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्मके फलको भोगता है परंतु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहारका दर्शन - मत संक्षेपसे कहनेयोग्य है। अब निश्चयके वचन सुनो जो कि अपने परिणामोंसे किये हुए होते हैं। जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता है परंतु उस चेष्टासे अनन्य - अभिन्न - तद्रूप रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्म करता है परंतु वह उन कर्मोंसे -- रागादिरूप परिणामोंसे अनन्य - अभिन्न रहता है। तथा जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरंतर दुःखी होता है और उस दुःखसे अभिन्न रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी निरंतर दुःखी होता है और उस

दुःखसे कथंचित् अनन्य - अभिन्न रहता है।।३४९-३५५।।

आगे निश्चय व्यवहारके इस कथनको दृष्टांत द्वारा दस गाथाओंसे स्पष्ट करते हैं --

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडिदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ, णाया वि सयेण भावेण।।३६१।।
जह परदव्वं सेडिदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ, जीवोवि सयेण भावेण।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ, णायावि सयेण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ, सम्मदिट्ठी सहावेण।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो।।३६५।।

जिस प्रकार खड़िया दीवाल आदि परपदार्थोंको सफेद करनेवाली है इसलिए खड़िया नहीं है वह स्वयं ही खड़ियारूप है उसी प्रकार जीव परका ज्ञायक होनेसे ज्ञायक नहीं है किंतु स्वयं ही ज्ञायकरूप है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको सफेद करनेवाली होनेसे खड़िया नहीं है किंतु स्वयं खड़िया है उसी प्रकार जीव परका दर्शक -- देखनेवाला होनेसे दर्शक नहीं है, किंतु स्वयं दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको

सफेद करनेवाली होनेसे परकी नहीं है उसी प्रकार जीव परको त्यागनेसे संयत नहीं है, किंतु स्वयं संयतरूप है। जिस प्रकार खड़िया परकी होनेसे खड़िया नहीं है, किंतु स्वयं खड़ियारूप है उसी प्रकार जीव परका श्रद्धानी होनेसे श्रद्धानरूप नहीं है, किंतु स्वयं श्रद्धानरूप है। ऐसा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रके विषयमें निश्चय नयका कथन है। अब व्यवहार नयका जो वचन है उसे संक्षेपसे सुनो। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावकर दीवाल आदि परपदार्थोंको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा परपदार्थोंको अपने स्वभावके द्वारा जानता है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थको सफेद करनेसे खड़िया नहीं है, वह स्वयं खड़िया है उसी प्रकार आत्मा स्वयं परद्रव्यको देखता है इसलिए द्रष्टा नहीं है, किंतु स्वस्वभावसे दर्शक होनेसे दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे परपदार्थको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परपदार्थको त्यागता है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्रके विषयमें व्यवहारका निश्चय कहा। इसी तरह अन्य पर्यायोंके विषयमें भी जानना चाहिए।।३६-३५६-३६५।।

आगे अज्ञानसे आत्मा अपना ही घात करता है यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु विसएसु।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कम्मेसु।।३६७।।
दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कायेसु।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य, भणिओ[१] घाओ[२] तहा चरित्तस्स।
[३]णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स, कोवि घाओ उ णिद्दिट्ठो।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ, णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स[४], णत्थि रागो उ विसएसु।।३७०।।
रागो दोसो मोहो, जीवस्सेव[५] य अणण्णपरिणामा।
एएण[६] कारणेण उ[७], सद्दादिसु णत्थि रागादि।।३७१।।

दर्शन ज्ञान चारित्र, अचेतन विषयोंमें कुछ भी नहीं हैं इसलिए उन विषयोंमें आत्मा क्या घात करे?

१. भणिदो। २. घादो ३. णवि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णट्ठिदो। ४. सम्मादिट्ठिस्स ५. जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा। ६. एदेण। ७. दु ज. वृ.।

दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें कुछ भी नहीं हैं इसलिए आत्मा उन कर्मोंमें क्या घात करे? दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कायमें कुछ भी नहीं हैं इसलिए आत्मा उन कायोंमें क्या घात करे? घात, ज्ञान दर्शन तथा चारित्रका कहा गया है, वहाँ पुद्‌गल द्रव्यका तो कुछ भी घात नहीं कहा। जो कुछ जीवके गुण हैं वे निश्चयकर परद्रव्योंमें नहीं हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग ही नहीं है। राग द्वेष मोह ये सब जीवके ही अभिन्न परिणाम हैं इसलिए रागादिक शब्दादि विषयोंमें नहीं हैं।।३६६-३७१।।

आगे कहते हैं कि सभी द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं --

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए[१] गुणुप्पाओ
तम्हा उ[२] सव्वदव्वा, उप्पंज्जंते सहावेण।।३७२।।

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका गुणोत्पाद नहीं किया जाता इसलिए यह सिद्धांत है कि सभी द्रव्य अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।।३७२।।

आगे इस बातको प्रकट करते हैं कि जो स्पर्शादि विषय हैं वे पुद्‌गलरूप परिणमन करते हैं। आत्मासे 'तुम मुझे ग्रहण करो या न करो' ऐसा कुछ भी नहीं कहते। आत्मा स्वयं ही अज्ञानी तथा मोही हुआ उन्हें ग्रहण करता है --

[३]णिंदियसंथुयवयणाणि, पोग्गला परिणमंति [४]बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसदि, तूसदि य अहं पुणो भणिदो।।३७३।।
पोग्गलदव्वं [५]सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ[६] गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिओ, किंचिवि किं [७]रूससि [८]अबुद्धो।।३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो, ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, सोयविसयमागयं सद्दं।।३७५।।
असुहं सुहं च रूवं, ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, चक्खुविसयमागयं रूवं।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो, ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, घाणविसयमागयं गंधं।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो, ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, रसणविसयमागयं तु रसं।।३७८।।

---

१. कीरदे गुणविघादो ज. वृ. । २. दु ज. वृ. । ३. णिंदिदसंथुद। ४. बहुगाणि। ५. सद्दत्तहपरिणदं । ६. जदि । ७. रूससे। ८. अबुहो।

असुहो सुहो व फासो, ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, कायविसयमागयं फासं।।३७९।।
असुहो सुहो व गुणो, ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं, ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं दव्वं।।३८१।।
[1]एयं तु जाणिऊण, उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

बहुत प्रकारके निंदा और स्तुतिरूप जो वचन हैं उन रूप पुद्गल परिवर्तन करते हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव यह मानता हुआ कि ये शब्द मुझसे कहे गये हैं रुष्ट होता है और संतुष्ट होता है। शब्दस्वरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है, शब्दत्व उसीका गुण है और तुझसे भिन्न है। इसलिए तुझसे कुछ नहीं कहा गया है। तू अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है? शुभ अथवा अशुभ शब्द तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे सुन और श्रोत्रेंद्रियके विषयको प्राप्त हुए शब्दको ग्रहण करनेके लिए वह आत्मा भी नहीं आता। अशुभ अथवा शुभ रूप तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे देख और न चक्षुके विषयको प्राप्त हुए रूपको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गंध तुझसे यह नहीं कहता कि तू मुझे सूँघ और न घ्राणके विषयको प्राप्त हुए गंधको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे चख और न रसना इंद्रियके विषयको प्राप्त हुए रसको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि तू मेरा स्पर्श कर और न स्पर्शन इंद्रियके विषयको प्राप्त हुए स्पर्शको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे समझ और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए गुणको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे जानो और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अज्ञानी जीव यह जानकर भी उपशमभावको प्राप्त नहीं होता और परपदार्थके ग्रहण करनेका मन करता है, सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं कल्याणरूप बुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है।।३७३-३८२।।

आगे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्रका स्वरूप बतलाते हैं --

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।

१. एवं तु जाणि दव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे । ज. वृ. ।

कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो, सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ, सो खलु आलोयणं चेया[१]।।३८५।।
[२]णिच्चं पच्चक्खाणं, कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
[३]णिच्चं आलोचेयइ, सो हु चरित्तं हवइ चेया[४]।।३८६।।

पूर्वकालमें किये हुए शुभाशुभ अनेक विस्तारविशेषको लिये हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमण है। जिस भावके होनेपर जो शुभाशुभ कर्म भविष्यमें बँधनेवाले हैं उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है। अनेक विस्तारविशेषको लिये जो शुभाशुभ कर्म वर्तमानमें उदयको प्राप्त है दोषरूप उस कर्मको जो ज्ञानी अनुभवता है -- उससे स्वामित्वभावको छोड़ता है वह निश्चयसे आलोचना है। तथा इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य प्रत्याख्यान करता है और नित्य आलोचना करता है वह निश्चयसे चारित्र है।।३८३-३८६।।

आगे जो कर्मफलको अपना तथा अपना किया हुआ मानता है वह अष्टविध कर्मोंका बंध करता है यह कहते हैं --

वेदंतो कम्मफलं, अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं, मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८९।।

जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ कर्मफलको आपरूप करता है -- अपना मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है। कर्मफलका वेदन करता हुआ जो जीव कर्मफलको अपना किया हुआ मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है। जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ सुखी दुःखी होता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है।।३८७-३८९।।

आगे ज्ञान ज्ञेयसे पृथक् है यह कहते है --

---

१. चेदा। २. णिच्चं पच्चक्खीणं कुव्वदि णिच्चं पि दो पडिक्कमदि। ३. णिच्चं आलोचेदिय ४. चेदा ज. वृ.

सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विंति।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवइ, जम्हा सद्दो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवइ, जम्हा रूवं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा विंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवइ, जम्हा वण्णो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा विंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवइ, जम्हा गंधो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं गंधं जिणा विंति।।३९४।।
ण रसो ण हवदि णाणं, जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, रसं य अण्णं जिणा विंति।।३९५।।
फासो णाणं ण हवइ, जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा विंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवइ, जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा विंति।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवइ, जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा विंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवइ, जम्हाऽधम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा विंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवइ, जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कालं जिणा विंति।।४००।।
आयासं पि ण णाणं , जम्हायासं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं यासं, अण्णं णाणं जिणा विंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं, अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।

जम्हा जाणइ णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो, अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं, दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा, पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है औरस्पर्श अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्मास्तिकाय कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और धर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्मास्तिकाय कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और कालद्रव्य अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। चूँकि जीव निरंतर जानता है इसलिए ज्ञायक है तथा ज्ञान है और ज्ञान ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त - - अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अंगपूर्वगत सूत्र है, धर्म अधर्म है तथा दीक्षा है ऐसा बुधजन अंगीकार करते हैं।।३९०-४०४।।

अत्ता जस्सामुत्तो[१], ण हु सो आहारओ[२] हवइ[३] एवं।
आहारो खलु मुत्तो, जम्हा सो पुग्गलमओ उ[४]।।४०५।।
णवि सक्कइ घित्तुं जं, ण[५] विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो,. [६]पाउग्गिओ विस्ससो वावि।।४०६।।

१. जस्स अमुत्तो। २. आहारगो। ३. हवदि। ४. दु। ५. ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं। ज. वृ.। ६. पाउग्गिय ज. वृ.।

तम्हा उ[1] जो विसुद्धो, चेया[2] सो णेव गिण्हए[3] किंचि।
णेव विमुंचइ[4] किंचिवि, जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चयसे आहारक नहीं होता, क्योंकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्‌गलमय है। जो परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है वह आत्माका कोई प्रायोगिक अथवा वैस्रसिक गुण ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव अजीव द्रव्यमेंसे कुछ भी न ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता ही है।।४०५-४०७।।

आगे कहते हैं कि लिंग मोक्षमार्ग नहीं है --

पासंडीलिंगाणि व, गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति।।४०८।।
ण हु होदि मोक्खमग्गो, लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति।।४०९।।

बहुत प्रकारके पाखंडिलिंगों अथवा गृहस्थलिंगोंको ग्रहण कर मूढ़ जन ऐसा कहते हैं कि यह लिंग मोक्षका मार्ग है। परंतु लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, क्योंकि अर्हंत देव भी देहसे निर्ममत्व हो तथा लिंग छोड़कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी ही सेवा करते हैं।। ४०८-४०९।।

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं --

ण वि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण णाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति।।४१०।।

जो पाखंडी और गृहस्थरूप लिंग है वह मोक्षमार्ग नहीं है। जिनेंद्र भगवान दर्शन ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहते हैं।।४१०।।

तम्हा जहित्तु लिंगे, सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

इसलिए गृहस्थों और मुनियोंके द्वारा गृहीत लिंगोंको छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ।।४११।।

आगे इसी मोक्षमार्गमें निरंतर रत रहो यह उपदेश देते हैं --

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं [5] चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

१. दु। २. च्चेदा। ३. गिण्हदे। ४. विमुंचदि ज. वृ. ५. चेदयहि झायहि तं चेव। ज. वृ.

हे भव्य! तू पूर्वोक्त मोक्षमार्गमें आत्माको लगा, उसीका ध्यान कर, उसीका चिंतन कर, उसीमें निरंतर विहार कर। अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर।।४१२।।

आगे कहते हैं कि जो बाह्य लिंगोंमें ममताबुद्धि रखते हैं वे समयसारको नहीं जानते हैं --

[१]पाखंडीलिंगेसु व, गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं, तेहिं ण णायं[२] समयसारं।।४१३।।

जो बहुत प्रकारके पाखंडी लिंगों और गृहस्थलिंगोंमें ममता करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना है।।४१३।।

आगे कहते हैं कि व्यवहार नय दोनों लिंगोंको मोक्षमार्ग बतलाता है, परंतु निश्चय नय किसी लिंगको मोक्षमार्ग नहीं कहता --

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण[३] इच्छइ, मोक्खपहे[४] सव्वलिंगाणि।।४१४।।

व्यवहार नय तो मुनि और श्रावकके भेदसे दोनों ही प्रकारके लिंगोंको मोक्षमार्ग कहता है, परंतु निश्चय नय सभी लिंगोंको मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं करता।।४१५।।

आगे श्री कुंदकुंदाचार्य देव समयप्राभृत ग्रंथको पूर्ण करते हुए उसके फलकी सूचना करते हैं --

जो समयपाहुडमिणं, पडिहूणं[५]अत्थतच्चदो णाउ[६]
अत्थे ठाही[७]चेया[८], सो [९]होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

जो भव्यपुरुष इस समयप्राभृतको पढ़कर तथा अर्थ और तत्त्वको जानकर इसके अर्थमें स्थित रहेगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा।।४१५।।

इस प्रकार सर्वविशुद्ध ज्ञानका प्ररूपक नवम अंक पूर्ण हुआ।

*

१. पाखंडिय ज. वृ.। २. णादं ज. वृ.। ३. णेच्छदि ज. वृ.। ४. मुक्ख पहे ज. वृ.। ५. पठिदूणय ज. वृ.। ६. णादु ज. वृ.। ७. ठाहिदि ज. वृ.। ८. चेदा ज. वृ.। ९. पावदि ज. वृ.।